माटी की गंध

शांति जोशी

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

धरती के ये फूल

उसी को

समर्पित ।

दो शब्द

'माटी की गंध' की कहानियाँ जीवन की वास्तविकता को छूती हुई आगे बढ़ती हैं। ये कहानियाँ मेरे पिछले छः महीनों का प्रयत्न हैं, जिन्हें मैंने अपनी अस्वस्थता के क्षणों को भरने के लिए लिखा है। यदि इनसे पाठकों का मनोरञ्जन हो सका तो मुझे प्रसन्नता होगी।

११. १२. '५८ — शांति जोशी

१८/७ बी. स्टैनली रोड,
इलाहाबाद

सूची

अभिशाप

जेठ की दोपहर थी। कमला अपनी छोटी-सी कोठरी में गीली चटाई बिछाकर लेटी हुई थी। चढ़ती हुई धूप की असह्य गर्मी को भुलाने के लिए वह बार-बार आँखें मूँदकर नींद को बुला रही थी। नींद के अपने नखरे हैं, जितनी मिन्नत करो उतना ही दूर भागती है। बड़ी कठिनाई से एक-आध बार आँख लगी कि गर्मी के अंगारों में झुलसती हुई वह प्यास के मारे तड़प उठी। वह अलसाती, बड़बड़ाती हुई उठी, बगल की ओर झुककर हाथ लम्बा कर पास ही रक्खी सुराही से पानी निकाल कर एक साँस में पी गई। क्या आफत है! पानी पीते जाओ, पेट की जलन बुझने का नाम नहीं लेती। गर्मी के मारे दिन काटे नहीं कट रहा था। सहसा उसे अपने एकाकी जीवन पर तरस आ गया। काश! कोई मेरा अपना होता। तब मैं यहाँ थोड़ी ही पड़ी रहती। वह मुझे इस तरह झुलसते नहीं देख सकता। अवश्य ही शिमला ले जाता। वह ठण्डी हवा के मीठे स्वप्न देखने लगी। पर, यह देर तक न चल सका। एकाएक उसे माँ की याद आ गई—माँ ठीक ही तो कहती थीं—'स्त्री अबला है। जीवन की नौका वह अकेले नहीं खे सकती।' और तब वह नागिन की भाँति फुफकार कर उत्तर देती—'माँ, तुम हो भोली, क्या समझो इन पुरुषों की चतुराई को। स्त्री को अबला कहने वाले पुरुष स्वयं दुर्बल हैं। बिना स्त्री के एक दिन भी उनका खाना-पीना न चले—समझीं। और—' वह आवेश में भर जाती। 'उनकी कृतघ्नता तो नग्नता पर पहुँच चुकी है। नारी के प्रति कृतज्ञ होने के बदले उसकी बुराई करते हैं। उसकी स्वतंत्रता का अपहरण कर उसे बंधन में डालते हैं।' माँ को यह समझाते-समझाते उसका क्रोध नारी जाति के प्रति दया

में बदल जाता । माँ के गले में हाथ डालकर छलछलाते हुए नेत्रों से वह कहती—'माँ, मैं अपने स्वतंत्र अस्तित्व, अभिरुचि और व्यक्तित्व को घर की चक्की में नहीं पीसना चाहती हूँ ।' माँ उस समय निरुत्तर हो जाती पर अवसर पाते ही कहती—'रानी, इस अथाह संसार में अकेले रहना अच्छा नहीं है । मेरे बाद तेरे दुःख-सुख का संगी कौन होगा ?' माँ की प्यार-भरी बातें याद आते ही कमला की आँखों से आँसू बहने लगे । वह व्यथित हो गई । दोनों हाथ छाती से चिपकाकर वह फूट-फूटकर रो उठी—'माँ, सुनती हो । आज तुम्हारी रानी नितान्त अकेली है !'

ऐसी मनःस्थिति ने उसे आत्म-दया से भर दिया । 'क्या जीवन है ! म्युनिसिपल स्कूल की नौकरी भगवान् न करे कि किसी को करनी पड़े । कोल्हू के बैल की भाँति दिन-रात पिसना पड़ता है । सवेरे से शाम तक काम करते-करते कमर टूट जाती है । नौ बाद को बजते हैं स्कूल पहिले पहुँचना होता है । एक क्षण की देर हुई कि कारण पूछा जाता है । चार बजे तक पढ़ाओ—फिर कुछ-न-कुछ ऊपर से लगा रहता है । आज चेयरमैन आने वाले हैं, कल खेल-कूद होंगे, परसों वार्षिक पारितोषिक वितरण है ।' वह दाँत पीसने लगी । 'अपमान, झूठ, और लाञ्छना की हद होती है ! १२५) रुपए के 'पे-स्लिप' पर हस्ताक्षर किये जाते हैं और ७५) रुपए भी तो सदैव नहीं मिलते । यदि ५-१० रुपए आवश्यक चन्दे के नाम पर न काट लिये जाएँ तो फिर धोती में पैवन्द लगाने की नौबत कैसे आए ? हूँ—उस पर कहा जाता है कि धोबी की धुली धोती पहिन कर स्कूल जाना चाहिए । क्यों नहीं ? हमें भावी नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास के लिए सुन्दर परिस्थितियों का निर्माण जो करना है । यदि हमीं स्वच्छ कपड़े और सुरुचिपूर्ण पहनावा नहीं अपनाएँगे तो बेचारे अबोध बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ेगा । क्या यह छलना नहीं है ? हमारे जीवन में है क्या जो स्वच्छ और प्रसन्न रहें ? घर आकर भी चैन की साँस नहीं ले पाते । खाना पकाओ, राशन लाओ, झाड़ू

दो, पानी भरो. काम की कोई कमी है ? जीवन दूभर हो गया है । कोई कुछ कहने वाला नहीं है । आग में कूदना चाहूँ तो कोई रोकने वाला नहीं । मन ऊबता है तो किसी प्रकार का कोई मनोरंजन नहीं । एकमात्र साथी ताले की कुंजी है । बाहर जाना चाहो तो बाईं ओर घुमा दो और अन्दर आना चाहो तो दाहिनी ओर । यह एकाकी जीवन की कैसी स्वतन्त्रता है ?' वह विक्षुब्ध हो उठी—'यह कैसा आत्म-वर्जन है ! दिन-भर मरो और ऊपर से हेड मिस्ट्रेस की भौंहें देखो । गर्मी के मारे न रात में चैन है और न दिन में । मच्छर कान में अलग भुन-भुन करते रहते हैं । शायद मेरे जीवन पर तरस खाते हों । सोचते हों इसे साथ की आवश्यकता है ।' साहचर्य की कल्पना कमला को सुखद लगी और वह मन्द-मन्द मुस्करा दी । तुरन्त ही यथार्थ के प्रति सचेत हो, तनिक खीझ कर वह हाथ जोड़ कर बोली—"मच्छर महाशय, आपकी दया हम गरीबों के लिए अभिशाप है । मच्छरदानी, बिजली का पंखा, फ्लिट आदि मेरे पास कुछ नहीं है । पंखा करते-करते हाथ टूट जाते हैं । सामने कापियों का ढेर देखते हैं ? हाथ टूटे चाहे दिमाग़ फट जाए, महारानी जी का आदेश है, परसों तक जँच जानी चाहिए ।"

इसी ऊहापोह में कमला के विचारों ने न-जाने कब करवट बदली । वह कहने लगी—"जीजी कितनी सुखी है । क्या ठाठ हैं, उसके ! आलीशान मकान, कार, नौकर-चाकर सभी तो है । उसके घर में किसी प्रकार की कमी नहीं दीखती—जीजा जी पर हुक्म चलाया, तनिक तुनकीं कि सब कुछ हाजिर । जीजा जी कितने भले हैं । दीदी का भाग्य अच्छा है । आराम लिखा है । मैं तो खोटे कर्म लेकर पैदा हुई हूँ ।" उसकी आँखों की कोरों से पानी गिरने लगा । वह गालों को अँगुलियों से पोंछती गई और उसकी विचार-धारा अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रही । "माँ भी सदैव जीजी का पक्ष लेती थीं, 'हठ मत कर, लाजो तेरी बड़ी बहिन है । ससुराल वाली है, उसके मन का कर दे ।' मेरे भाग्य में तो अन्तिम साँस निकलने तक श्रम और आत्म-वर्जन लिखा है शादी भी करती

तो सुख थोड़ी मिलता। संभव है मियाँ जी को ७५) रुपए ही मिलते होते। कितनी आफत आती तब? यहाँ अकेले प्राणी की रोटियों का ठिकाना लगाना कठिन हो रहा है और इतने में ही दो प्राणियों का खाना और....'' वह सकुचा गई। ''बच्चे के लिए किस चीज़ की कमी करती। न जाने उसका नन्हा-सा सुकुमार मन रखने के लिए क्या-क्या लेना पड़ता।'' फिर एकदम संयत होकर उसने दृढ़ता से अपने को इस अनर्गल चिन्तन के लिए धिक्कारा, ''निरर्थक! जीजा जी की भाँति वे अच्छी नौकरी में होते। अम्मा यों ही किसी गरीब से शादी थोड़ी कर देतीं। और जीजी, वह तो अभी तक कहने में है, 'मेरी रानी, तू हाँ-भर कर दे। देख तेरे लिए कितना अच्छा लड़का खोजती हूँ। तुझे आँख की पुतली बनाकर रखेगा। क्यों ७५) रुपए की नौकरी करके अपने को नष्ट कर रही है!' इन विचारों के साथ ही कमला आश्वस्त हो गई। उसने फिर से थोड़ा पानी पिया और कापियों की ओर हाथ बढ़ाया।

माँ की मृत्यु के पश्चात् कमला के लिए एकमात्र ठौर बड़ी बहिन का घर था। अतः छुट्टियों में वह वहीं जाया करती थी। इस बार जब दीवाली की दो दिन की छुट्टियाँ हुईं तो कमला नवीन उत्साह और आशा से लाजो के पास गई—मानो गृहस्थी के सुख और ऐश्वर्य का अनुभव करना चाहती हो। लाजो अब पुरानी लाजो नहीं रह गई थी। ससु-राल से कुछ दिनों के लिए माँ की गोद में आना, बाल हठ करना तथा मचलना, यह वह भूल चुकी थी। पति के साथ अठखेलियाँ करने तथा उसे नाज़ दिखाने के दिन बीत चुके थे। मानिनी नायिका अब दायित्व के भार से झुकी हुई पूर्ण गृहिणी थी।

खाना खाने के बाद कमला ने दैनिक पत्र उठाया और वह खुशी से उछल पड़ी। पत्र हाथ में पकड़े वह वहीं से लाजो को पुकारती हुई उसके पास पहुँची—''जीजी, ओ मेरी अच्छी जीजी! आज बड़ी बढ़िया पिक्चर है। झट तैयार हो जाओ। साढ़े-तीन बजे से है!''

लाजो थाली में बर्फी काट रही थी। उसका सिर झुका था। आँखें

हाथ के चाक़ू पर केन्द्रित थीं। उसने बिना सिर उठाए ही उत्तर दिया—"अभी कैसे चल सकती हूँ। तू देखना चाहती है तो मैं उनसे कहूँगी। रात के शो में चले चलेंगे या कल चलेंगे।"

कमला अपनी धुन में थी—"नहीं जीजी, इस पिक्चर का रात का शो नहीं है। यही अन्तिम शो है।"

पर लाजो ने उसी शांत भाव से उत्तर दिया—"बिना उन्हें बताए मैं कैसे जा सकती हूँ? वह आफ़िस से थके-माँदे आवेंगे और मुझे घर पर न देखेंगे तो क्या सोचेंगे? 'मैं दफ़्तर में पिसता रहता हूँ और श्रीमती जी'....फिर, अकेले उनसे चाय पी भी तो नहीं जाती।"

कमला विस्मय में पड़ गयी—'क्या यह वही जीजी है जो ज़रा-ज़रा-से में रोने लगती थी और अपनी इच्छा और सुख के आगे सब कुछ भूल जाती थी। न जाने कितनी बार माँ ने इसकी ऐसी नासमझी के कारण कठिनाई उठाई और आज....।' कमला को बहुत बुरा लगा। वह सोचने लगी—'जीजा जी बच्चा तो हैं नहीं कि थोड़ी देर जीजी को घर में नहीं देखा तो रोने लगें। और चाय! वह सदैव की भाँति आज भी नौकर लगाएगा। आखिर जीजाजी अतिथि तो हैं नहीं। यह उनका अपना ही घर तो है।' कमला खीझ उठी—'जीजी कितनी विचित्र हो गई हैं। बिना जीजा जी के वह पिक्चर नहीं देखेगी। ऊँ हूँ, यह सब विवाहित जीवन के दिखावे हैं।' अपने स्वभाव के विपरीत वह चीखती हुई बोली—"जीजी, यह क्या? क्या तुम्हारी कोई स्वतंत्र अभिरुचि नहीं है? तुम्हारा अपना अस्तित्व कहाँ है? तुम सिनेमा नहीं जाओगी, क्योंकि जीजा जी थके-माँदे घर में आवेंगे और संभव है इसलिए भी कि उनकी इस ओर अभिरुचि नहीं है।"

उस रात न-जाने क्यों लाजो की छोटी बच्ची रात-भर खुन-खुन करती रही और वह सो नहीं पायी। सबेरे से ही वह थोड़ी देर सोने के लिए छटपटा रही थी, पर समय नहीं मिल रहा था। खाना लगवाने का समय हो गया था और उसकी आँखें नींद से बन्द हुई जा रहीं थीं। कमला

ने कहा—"जीजी, खाना लगवा दो। खाकर तुम सो जाना। यदि कोई काम होगा तो मुझे बता देना।"

लाजो 'हूँ' कहकर चुप हो गई। उसके कान बैठक में लगे हुए थे। वहाँ से वार्तालाप की ध्वनि आनी बन्द हुई कि वह मेज पर खाना लगाते हुए कहने लगी—"वह नहाने में देर नहीं लगाते हैं। मेरे खाना लगाने तक नहा लेंगे।"

इतने में जीजा जी अन्दर आ गए। मित्रों से निबट कर आए थे; बहुत प्रसन्न थे। कुर्सी पर बैठकर अँगड़ाई लेते हुए बोले—"भई, एक प्याला गरम चाय पिला दो तो नहाने जाऊँ, मिस्टर भगत आए थे। क्या आदमी है—बोर हो गया हूँ। बिना चाय पिए कुछ करने की तबियत नहीं होती।"

घड़ी की ओर कनखियों से देखते हुए लाजो ने साश्चर्य पूछा—"क्यों खाना कब खाइएगा?"

आराम से सिगरेट जलाते हुए बोले—"छुट्टी का दिन है। निश्चिंतता से सब काम होना चाहिए। यदि तुम्हें जल्दी हो तो मैं ऐसे ही खाने को तैयार हूँ।"

अन्तिम वाक्य सुनते ही लाजो गद्गद हो गई। उनकी कुर्सी के हाथ पर बैठती हुई बोली—"आप कैसी बातें करते हैं? मुझे किस बातकी जल्दी। आराम से नहाइए, खाइए।"

खाना खाने में ढाई बज गया। हाथ पोंछते हुए जीजा जी बोले—"तुम कहो तो मैं थोड़ी देर सो लूँ। एक दिन तो सोने के लिए मिलता है।"

लाजो प्रसन्न थी—"हाँ, हाँ, आप सोइए। मेरा क्या, मैं तो रोज ही घर में रहती हूँ। जो चाहूँ कर सकती हूँ।"

अँगुलियों में लाजो के बालों को उलझाते हुए वह बोले—"तो तुम तनिक ध्यान देना। बच्चे शोर-गुल न करें।" कहते हुए जीजा जी ने अपने कमरे में प्रवेश किया और लम्बी तान कर सो गए।

किन्तु लाजो को कहाँ चैन—माली काम पर आया या नहीं, झगड़ू से कहना है आटा पिसा लाए और हाँ, दो पैसे का सोडा भी मँगवाना है। ग्वाले से आज दूध ज्यादा लेना है—बच्चे खीर-खीर कह कर जान खा रहे हैं; मगन से तरकारी मँगाई थी, देखनी है कैसी लाया है—महाराज से कहना है, नाश्ता बनाना आरम्भ कर दे—बच्चों के खाने का समय हो गया है। इसी भाँति के न-जाने कितने कामों में वह व्यस्त हो गई।

चाय का समय हुआ कि बैरा ने चाय लगा दी। उसी समय उसने बताया कि महाराज बीमार हो गया है। लाजो क्षीण स्वर में बोली—"बड़ी आफत है। आज मैं थकी हूँ। ऊपर से यह बला आई।"

कमला को लगा जीजी व्यर्थ में परेशान हैं। उसे याद आया—"ऐसे अवसरों पर माँ खिचड़ी पकाती थीं। संभव है जीजी को मेरे कारण संकोच हो रहा हो, वह बोल उठी—"जीजी तुम थकी हो। रसोई में मत जाओ। नौकर से खिचड़ी डलवा दो। सब खा लेंगे।"

लाजो चौंक उठी—"नहीं, यह कैसे हो सकता है? तुम्हारे जीजा जी खिचड़ी छूते तक नहीं। मेरे रहते उन्हें भूखा सोना पड़े, यह उचित नहीं।"

कमला की कुछ समझ में नहीं आ रहा था। उसे लाजो की बातें अर्थशून्य लगीं। उसे लगा कि लाजो ने अपने व्यक्तित्व को शून्य में मिला दिया। संस्कृति और सभ्यता एवं जीवन-विकास के मूल तत्वों को धूल में मिलाकर उसने मध्ययुगीन रूढ़ियों को अपना लिया है। उसने झुँझलाकर लाजो से कहा—"जीजा जी यह क्यों नहीं समझते कि तुममें भी जान है।"

लाजो सलज्ज मुस्करा दी। उसकी ठोढ़ी पकड़ते हुए बोली—"पगली, वे मुझे बहुत अच्छा मानते हैं। लेकिन अपनी आदत से लाचार हैं। इसमें उनका क्या दोष? माँ ने ही ऐसी आदत डाल दी है। अगर मैं खिचड़ी बना दूँगी तो वे यही कहेंगे कि बड़ा अच्छा किया। पर खाते

समय कुछ-न-कुछ बहाना करके एक कौर मुँह में डाल कर उठ जाएँगे।"

कमला इस प्रेम को समझने में असमर्थ थी। यह कैसा प्रेम है जिसमें स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए स्थान नहीं है? वृक्ष की लता का जीवन उसके समर्पण का सूचक है? वह व्यंग्यात्मक स्वर में बोली—"प्यार करते हैं लेकिन तुम्हारा तनिक ख्याल नहीं करते।"

लाजो ने उसका मुँह बन्द करते हुए कहा—"चुप हो जा, रानी। वे सुनेंगे तो आहत हो जाएँगे। अभी तू बच्चा है। कई बातें नहीं समझती।"

दो दिन बाद कमला ने ताले की चाभी को दाहिनी ओर घुमाया और अपनी कोठरी में प्रवेश किया। कितनी शान्ति है इस चहार-दिवारी में। जीजी का जीवन क्या है—रेल का इंजन—दिन-भर झिक्-झिक् करता है। एक क्षण को वह अपनी नहीं है। अपनी इकाई को ही सब कुछ मानने वाली कमला को जब पारिवारिक झमेलों में अपने स्वत्व को भूलना पड़ा तो वह विक्षिप्त-सी हो गई। वास्तव में एकान्त जीवन की वह अभ्यस्त हो गई थी। व्यस्त जीवन ने उसे थका दिया। अनायास ही उसने पानी पिया और वह चटाई पर लेट गई। सहसा उसके मन ने कहा—'ओह, कहीं चैन नहीं है। मानव के लिए सुख मृगतृष्णा है, क्योंकि वह बुद्धिजीवी है। बुद्धि कुण्ठा और अतृप्ति की जननी है। वह मानव को उसका बोध कराती है जो उसके पास नहीं है।'

अनुभव का बोध

कभी-कभी मनचाही बात न-जाने कैसे एकदम घटित हो जाती है। किन्तु मनचाही होने पर ही क्या होता है! अपनी आकस्मिकता के साथ वह कुछ ऐसी विचित्रता लेकर आती है कि चाहने वाला मन अपने को धिक्कारने लगता है और दिनों तक उस ऐंठन का अनुभव होता है जिसकी टीस मिटती नहीं. मिटती ही नहीं।

सिविल-लाइन्स की दुकानों से कुछ आवश्यक-अनावश्यक सामान लेकर रिक्शा करने के लिए मैंने सड़क की ओर दृष्टि दौड़ाई ही थी कि सामने से एक बढ़िया स्टुडीबेकर आती दीखी। लम्बी-चौड़ी कार में एक दुबली-पतली महिला की आकृति देख कर अनायास मेरे मन ने कहा—"क्या ठाट से जा रही हैं, हमें लिफ्ट दें तो हम जानें।"

इन शब्दों ने मानो कार को सम्मोहित कर दिया। वह रुक गई। मेरे देखते-न-देखते एक महिला ने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया। मैंने उत्सुकता से उसकी ओर देखा। बढ़िया मद्रासी साड़ी पहिने, मोती के आभूषणों से अलंकृत एक निस्तेज मुस्कुराहट ने कहा—"पहचाना नहीं? मैं पप्पी हूँ।" उसने बरबस होठों को ताना, मानो मेरे मानस में पप्पी की स्मृति को सजग करने के लिए मुक्त हास बिखेरना चाहा।

पप्पी? होस्टल?....हाँ, अभी तीन साल पहिले ही तो हम दोनों होस्टल में रहते थे। साथ-साथ, एक ही कमरे में। पप्पी होस्टल का जीवन थी। प्रसन्नता और स्फूर्ति का स्फुलिंग! चंचल बालिका—बॉब्ड हेअर, छोटा-सा गोल मुँह, चमकती आँखें, भरी-पूरी देह और साँवला रंग। इन सबने उसे एक विचित्र आकर्षण दे दिया था। हम परिहास में उससे कहते—"कृष्ण के आकर्षण का रहस्य मालूम है?"

पप्पी का यह आकर्षण पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही संस्कृतियों को समान रूप से अपनाए हुए था। हिन्दी वह बेहद अशुद्ध बोलती थी। धोती वह पहिन नहीं पाती थी। किसी तरह से हम लोगों की सहायता लेकर पहिन भी लेती तो आधे घण्टे बाद धोती लहँगे-सी लगने लगती। अतः वह अधिकतर स्लेक्स या शलवार-कुर्ते ही में रहती। इस वेशभूषा के अन्दर से उसका अत्यधिक संवेदनशील स्वभाव, दया और सहानुभूति से ओतप्रोत व्यक्तित्व, शिष्ट तथा विनम्र व्यवहार तथा कलात्मक अभिरुचि विशेष रूप से झाँका करती।

पप्पी के पिता ने अपने बच्चों को सुशिक्षित बनाने में अपनी सारी जमा-पूँजी खर्च कर दी। उन्हें विश्वास था कि उनकी लड़कियों की योग्यता अपने आप ही अच्छे वरों को आकर्षित कर लेगी। पप्पी उनकी सबसे बड़ी लड़की थी। उसके चाहने पर भी वे उसे अविवाहित नहीं रखना चाहते थे। साथ ही अपने वणिक् संस्कारवश उनका विश्वास था कि लड़कियों का विवाह खूब अमीर घर में करना चाहिए—धन के अनुपात से ही सुख तथा भावी संतानों का अच्छा पालन-पोषण और शिक्षा संभव हो सकती है।

किन्तु दहेज के बिना उनकी लड़कियाँ अच्छे वरों को आकृष्ट न कर सकीं। पिता को चिन्तामुक्त करने के लिए पप्पी ने एक लखपति की तीसरी पत्नी बनना स्वीकार किया। वास्तव में उसने स्वयं इस प्रस्ताव को अपने पिता के सम्मुख रखवाया और प्रेम-विवाह के नाम पर वह संपन्न हो गया।

पप्पी के त्याग को न समझ सकने के कारण हम सब उसकी मूर्खता पर बहुत झल्लाए थे। कुछ दिनों तक होस्टल के विवाद-चर्चा का केन्द्र पप्पी ही रही। किन्तु बाद को जब यह सुना कि पप्पी राजसी वैभव से रहती है, उसके पति अधेड़ उम्र के होने पर भी सुन्दर और सुजन हैं तथा उसकी अत्यधिक परवाह करते हैं तो हम लोगों के मुँह में मानो किसी ने मुहर लगा दी।

पप्पी का आज का रुग्ण शरीर और फीकी मुस्कुराहट देख मेरे मुँह से निकल ही तो गया—" पप्पी, तुम सुखी हो न ? सुना, तुम्हारे पति तुम्हें बेहद प्यार करते हैं ?"

प्यार ! वह चौंक उठी। हकलाते हुए बोली—"प्याऽऽऽर ! हाँ, प्यार तो बहुत करते हैं।" उसकी आँखें चमक उठीं। पर वह चमक एक क्षण से अधिक न ठहर सकी। दूसरे ही क्षण धुँधली पड़ गई। उसके कानों में गूँजने लगा—'मुन्ना ! बेबी !'—हाँ, उसके पति प्रेमावेश में अधिकतर उसे ऐसे ही संबोधित करते हैं।

पप्पी मेरा हाथ पकड़ती हुई कार की ओर लपकी—"कहाँ जा रही हो ? चलो, मैं पहुँचा आऊँ। आज सालों बाद भेंट हुई है। मेरे पति व्यवसाय करते हैं। व्यवसाय के सिलसिले में लखनऊ से बंबई जाते हुए हम अधिकतर इधर से होकर दो दिन के लिए इलाहाबाद रुक जाते हैं। यहाँ इनकी मौसी रहती हैं। मुझे मालूम ही नहीं था कि तुम यहाँ हो। आज अनायास भेंट हो गई।" और उसने मुझे चिपका लिया।

उसकी पसलियों का स्पर्श पाते ही मैंने घबड़ाकर पूछा—"पप्पी, तुम इतनी दुर्बल कैसे हो गई हो ? क्या बीमार थीं ?"

वह हँस दी—"न-जाने क्या हो गया है। मैं स्वयं परेशान हूँ। तुम्हें याद होगा जब तुम लोग कहती थीं कि थक गए हैं तो मुझे विश्वास नहीं होता था। थकान किस चिड़िया का नाम है, तब मैं नहीं जानती थी। अब कोई मुझसे पूछे—खड़े होने को जी नहीं चाहता। मन करता है चारपाई से हिलूँ नहीं।"

पप्पी की आँखों पर स्मृति का पर्दा पड़ गया—चारपाई पर लेटे-लेटे भी तो मन ऊब जाता है। बीमार पड़ती हूँ तो वे पास नहीं बैठते हैं। कमरे में आते हैं और दूर से ही यह कहते हुए चले जाते हैं कि तुम्हें परेशान नहीं करूँगा। सो जाओ। कोई आवश्यकता हो तो बता देना। बहुत हुआ तो गाल थपथपाते हुए कह देते हैं—'चिन्ता न करना। आराम करो, ठीक हो जाओगी।' स्मृतियाँ तड़प उठीं—शब्दों के इन

रिश्ते की भाभियों ने हँसी-ठट्ठा किया था—'बीबी बड़ी चतुर हैं। तीसरे ब्याह में जाना पसन्द किया है। जानती हैं, नाज-नखरे बूढ़ा पति ही निभा सकता है, अनुभवी जो ठहरा। अब तो बीवी चारपाई पर लेटे ही लेटे भौंहों के संकेतों से काम लिया करेंगी।'

हाँ, पति अनुभवी हैं। तभी तो उन तथ्यों की निस्सारता का उपदेश देते रहते हैं जिनमें मेरा मन स्वभावतः रम जाता है। सामाजिक जीवन दिखावा-भर है। चाय-पानी, मित्रता और हो-हुल्लड़ में व्यर्थ समय नष्ट होता है। चलचित्रों में अश्लील, अस्वाभाविक जीवन की झाँकियाँ मिलती हैं। छोटी-छोटी सुन्दर वस्तुएँ बाल-अभिरुचि की सूचक हैं और प्राकृतिक सौन्दर्य! उससे तो वह उतना ही दूर रहना चाहते हैं जितना मार्जारी जल से। एकांत निर्जन पहाड़ी स्थलों में घूमना पागल-पन है। मुसकुराता हुआ चाँद जब मुझे चाँदनी के रस में डुबाना चाहता है और बादल की उमड़-घुमड़ एवं बिजली की चमक जब मेरी देह को झंकृत कर देती है तब 'अनुभव का बोध' मुझे सहलाता हुआ समझाता है कि चुपचाप सो जाना चाहिए।

कार में बैठने पर उसके कपड़ों की ओर देखते हुए मैंने कहा—"लगता है तुम्हारे पति सफल व्यवसायी हैं। ऐश्वर्य से घिरी हो।"

पप्पी ने धीमे से 'हाँ' कहा, मानो सुनार ने रात्रि की निस्तब्धता को भंग न करने के अभिप्राय से धीमे से धौंकनी को बंद किया हो। उसकी आँखों को स्मृति के बादलों ने ढँक दिया। सुहागरात के दिन पति ने कुंजी देते हुए अपनी जमा-पूँजी के बारे में बतलाया और उसे आश्वस्त करना चाहा कि यदि उसे खाने-पहिनने का शौक है तो इस घर में उसे कोई कमी न दीखेगी। फिर हल्के से चुम्बन लेकर कहा—'लो सो जाओ, थकी होगी' और स्वयं करवट बदल ली।

घर पहुँचने पर मैंने आग्रहपूर्वक कुछ देर के लिए पप्पी को रोका और नन्दा से कॉफी बनवाई। कॉफी के लिए पूछने की मैंने कोई आवश्यकता न देखी—मुझे मालूम है कि कॉफी उसे बहुत प्रिय

है। कॉफी आने पर जब मैं प्यालों में उड़ेलने लगी तो पप्पी ने आश्चर्य प्रकट किया।

"कॉफी! इस समय!" याचना के स्वर में बोली—"बुरा न मानना। मैं नहीं पीऊँगी—तबियत खराब हो जाएगी।"

"हाँ, अवश्य। रात के बारह बजे जो भुट्टा खा सकता था और कॉफी पी सकता था....।"

खिन्नभाव से वह हँस दी—"पुरानी बातें छोड़ो। होस्टल में क्या करते थे और क्या नहीं—उन दिनों को याद करके क्या लाभ! अब वे दिन नहीं फिरेंगे।"

उसकी आँखें अधिक धूमिल हो गईं। वह विगत का स्वप्न देखने लगी—शादी हुए दो महीने ही तो हुए थे। माँ ने तीज की मिठाई भेजी थी। उसने तत्काल बर्फी का एक टुकड़ा अपने मुँह में डाल लिया था। वे गंभीर हो गए—'यह ठीक नहीं। जब जो दीखा खा लेती हो। बीमार पड़ोगी। हरदम जुगाली सी करना अच्छा नहीं होता। नियमित समय पर भोजन करना चाहिए क्योंकि संयमित जीवन स्वास्थ्यप्रद है।' उनके इस कथन का उल्लंघन करने पर उन्होंने माँ से कहा—'माता जी, आप कुछ न भेजा कीजिए। इसे खाने का अन्दाज नहीं है।'

पप्पी के मौन उदास मुख ने मुझे अप्रतिभ कर दिया—"अच्छा पप्पी, कॉफी नहीं पीतीं तो मत पियो। इतने दिनों बाद मिली हो—आओ, कुछ बातें करें। तुम्हारे हँसी के फव्वारों का क्या हाल है? याद है तुम इतना हँसा देती थीं कि पेट में दर्द होने लगता था।"

पप्पी ने हँसने का प्रयास करते हुए कहा—"हँसी के वही हाल हैं।" किन्तु उसकी आँखें कुछ अधिक धूमिल हो गईं—उस दिन वह कितना हँसी थी! उन्होंने दूसरे कमरे से सुना तो तत्काल आकर डाँट दिया। वह भौंचक रह गई थी—'क्या हँसना पाप है?' बाद में वह खूब फूट-फूट कर रोई थी। हृदय की आकांक्षाओं को बाहर निकाल कर फेंक देना चाहा था। उसे दुःखी देख कर उन्होंने उसे बाँहों में भर लिया

और माथे पर ओंठ रख कर बोले—'तुम्हें बुरा क्यों लगा ? मैंने तो तुम्हें प्यार से डाँटा था। तुम्हारी भलाई का ध्यान रख कर कृत्रिम रोष दिखलाया था। तुम बच्चा हो। मैं अनुभवी हूँ। मुझे समझने की चेष्टा किया करो। जानती हो बहुत हँसना बुरा होता है। आदमी हिस्टिरिकल हो जाता है। मैं तुम्हारी आयु की कई लड़कियों को जानता हूँ जो हिस्टिरिकल हो गई हैं।'

कुछ देर इधर-उधर की बातें कर पप्पी ने बिदा माँगी। मेरे देखते-देखते कार चल दी और पप्पी की आँखें अत्यधिक धूमिल हो उठीं। ऐश्वर्य से भरी हुई पप्पी का हृदय रीता है। मुग्धा प्रौढ़ा बनी हुई है। जिस प्यार की आकांक्षा और विचारों के आदान-प्रदान की संभावना से उसने माँ-बाप का घर छोड़ा था वह आज अकाल ही अनुभव के आभार से दबा हुआ है।

वह किसी की न थी

इतवार का दिन था। रूना आँगन में बैठी सिलाई कर रही थी। उसकी भौंहें रह-रह कर सिकुड़ जातीं थीं। उसे लग रहा था कि वकील साहब के यहाँ कुछ हो गया है। 'असमय बिना बुलाए दूसरों के घर नहीं जाना चाहिए'—यह असमर्थता उसे क्षुब्ध कर रही थी।

महरी को आते देख उसकी जिज्ञासा बढ़ गई। 'उनके यहाँ से बर्तन मलकर आई है, क्यों न इसी से पूछ लूँ।' पर महरी के मुँहफट स्वभाव से वह डरती थी, यद्यपि उसके काम की प्रशंसक थी। एक बात भी पूछूँगी तो इसकी कतरनी-सी जबान चलती रहेगी। अपने स्वभाव के विपरीत वह महरी के सामने सदैव गंभीर और काम में व्यस्त रहती। खाली भी बैठी होती तो महरी की आहट पा कर कोई किताब उठा कर उसे यों ही उलटने-पुलटने लगती। महरी भी उसे तिरछी निगाह से देख कर मुँह बिचकाती और काम में लग जाती।

इस समय अपनी जिज्ञासा से बाधित हो कर वह पूछने जा ही रही थी कि महरी पड़ोस में सब ठीक है? महरी ने उसके रुख को ताड़ते हुए अथवा निन्दा करने से पैनी अपनी कतरनी-सी जबान को सँभालने में असमर्थ हो कर उसे कुछ कहने का अवसर ही नहीं दिया। हाथ नचाती, गाल बजाती हुई बोली—"अरे बीबी जी, आप चुपचाप काम कर रही है? कुछ पड़ोस की भी खबर है? आजकल की मेम साहबों के तो ढंग ही न्यारे हैं। बस, ऊँची जूती पहनी, मुँह में लाल रंग पोता, हाथ में बड़ा-सा बटुआ थमाया और सोचने लगती हैं सात समुन्दर की रानी वही हैं।"

महरी के आक्षेपों से रूना से यह छिपा न रहा कि पड़ोस में कोई

दुर्घटना हो गई है। उसके अबाध गति से चलते हुए हाथ रुक गए मानो लकवा मार गया हो। दाहिना हाथ मशीन के हैंडल पर रखा रह गया और बायाँ अध-सिले कपड़ों पर। फिर भी प्रकट रूप से वह हँस दी—"क्यों, क्या बिगाड़ा है मेम साहबों ने तुम्हारा ?"

"हमारा क्या बिगाड़ेंगी,"—महरी आवेश में आकर बोली—"हम तो उन्हीं की भलाई के लिए कहते हैं जो आज न बीवी रह गई हैं, न माँ !"

कुछ क्रोधित होते हुए रूना के पास आ कर उसने दो सहनों के बीच खड़ी दीवाल की ओर संकेत करते हुए कहा—"आपसे क्या छिपा है ? देखती तो रहती हैं दिन-भर किस-किस के साथ घूमती रहती हैं। न घरवालों का डर, न बच्चों से प्रेम।" कुछ भुनभुनाते हुए उसने अंटी से सुपारी-तम्बाकू निकाली। फिर माथे पर हाथ मारकर बोली—"वकील साहब के करम खोटे हैं। उन्हें जोरू के हुकुम पर चलना पड़ता है। पुराणों में कलजुग में म्लेच्छों का राज लिखा है पर लुगाइयों के राज की बात किसी ने नहीं कही।" उत्सुकतापूर्वक उसने पूछा—"क्यों बीवी जी, आपने कहीं पढ़ा है ?"

रूना ने सिर हिला दिया। वह उत्सुक थी, आगे की बात जानने के लिए।

महरी के लिए भी उत्तर अनपेक्षित था। वह उत्तर के लिए नहीं रुकी और कहती गई—"अब न जाने क्या होगा ? कल तो महारानी तुनुक कर घर छोड़ चली गई हैं।" कहते-कहते वह खड़ी हो गई। दोनों हाथों को कमर पर रख गरदन मटकाती हुई बोली—"एक नौकर था, खाना पका देता था। कल बिना बात ही उस पर ऐसा बिगड़ीं की वह भाग खड़ा हुआ। वकील साहब क्या-क्या करें। बच्चे भूख के मारे चिल्ला रहे हैं। अरे, गई थीं तो अपना झमेला भी साथ ले जातीं।"

बच्चों के विचार ने महरी के मातृत्व को जगा दिया। करुणा-विगलित हो कर बोली—"सच कहती हूँ, बीवी जी। भूखे बच्चों का रोना देख कर जी कलप उठता है। मेरे तो अभी चार घर बाकी हैं, नहीं तो

बच्चों के लिए खिचड़ी डाल देती। अभी आप ही के रखे हैं।"

बासन माँज कर महरी जाने लगी तो न-जाने क्या सोच कर सहन के दरवाजे पर खड़ी हो गई। बड़े दयनीय भाव से बोली—"बीबी जी, आज तो इतवार है न। आपको फुर्सत हो तो तनिक बच्चों को देख आएँ।"

महरी की बात से वह छुट्टी के दिन का अपना प्रोग्राम भूल गई। पिक्चर देखने का विचार विगत का स्वप्न बन गया और सखी के यहाँ का चाय का निमंत्रण भी फीका लगने लगा।

उसने हड़बड़ा कर अपने कमरे में ताला लगाया, नौकर को आवश्यक काम बताए और जल्दी से वकील साहब के घर पहुँच गई। टुल्लू-बुल्लू को प्यार किया और सबके खाने की व्यवस्था की। फिर वकील साहब को सांत्वना देने का प्रयत्न किया। इस तरह उसका छुट्टी का दिन दौड़-धूप, सलाह-मशविरे में ही बीत गया। जब उसने चारपाई पर पैर रखा तो आधी रात बीत चुकी थी।

बच्चों की अनभ्यस्त रूपा जब सवेरे उठी तो बेहद थकी थी। पर मन दायित्व के भार से हरा-भरा था। उठते ही उसे बोध हुआ कि कल के क्रम को तब तक चलाना होगा जब तक कि बच्चों की माँ न आ जाए। वह मन-ही-मन हँस दी—यह इसी दिन की बाट देख रही थी।

रूपा को वकील साहब के घर की व्यवस्था तथा उनके बच्चों को प्यार करते देख पड़ोसियों ने दाँतों तले उँगली दबा ली। 'तो यह बात है। देखने में भोली-भाली, पर अन्दर से विष-भरी।' 'पढ़ी-लिखी औरतों के चरित्र देवता तक नहीं जानते।' 'वकील की बीवी से 'दीदी-दीदी' कहकर अंत में उसी का गला काटा है।' 'वकील की बीवी कैसी भली औरत थी; सुना दुःख से उसने जहर खा लिया है।' 'हाय राम, कैसी चतुर है! आदमी तो आदमी, बच्चों तक को अपने पंजे में कर लिया है। कैसे चिपकाए-चिपकाए फिरती है!' 'अरे रहने दो। यह सब दो दिन का है। जहाँ आदमी मुट्ठी में हुआ बच्चों को लात मारेगी! कहीं पराए जाये पर स्नेह हुआ है?'

२

वकील साहब के बगल वाले मकान में बंटो अपने मामा-मामी के साथ रहता था। वह दसवीं कक्षा का विद्यार्थी था। उसको घर के छोटे-छोटे काम करते देख रूपा को आश्चर्य हुआ और पूछने पर पता चला कि उसका पढ़ने में मन नहीं लगता।

बंटो का अंधकारपूर्ण भविष्य रूपा की आँखों के आगे नाच उठा। जब भी वह उसे बच्चों के साथ खेलता हुआ देखती, वह उसे पढ़ाई में तन-मन से जुट जाने के लिए कहती।

परीक्षा-फल निकलने पर जब बंटो उसके पास आया तो उसने सहज प्रसन्नता से उसका मुँह मीठा करते हुए कहा—"बधाई, अब तो कालेज के विद्यार्थी हो गए हो।"

लड़के की आँखें भर आईं और वह रुआँसा हो गया। किसी तरह ओठों को दाँतों से दबाकर उसने रुलाई रोकी और बोला—"दीदी, पढ़ कर क्या होगा? कहीं नौकरी मिल जाती?" वह रूपा का मुँह इस उत्सुकता से ताकने लगा मानो नौकरी रूपा की जेब में हो।

रूपा आश्चर्यचकित थी। उसने कहा—"इंटर पास करके तो चपरासगीरी तक नहीं मिलती। यदि किसी प्रकार चालीस-पचास रुपए मिल भी गए तो क्या उससे जीवन निर्वाह हो सकेगा? क्या तुम अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर नहीं उठना चाहते हो? क्या कोई आकांक्षा नहीं है?" स्नेह से उसकी पीठ थपथपाते हुए वह बोली—"पढ़ने से डरना नहीं चाहिए। चार-पाँच साल परिश्रम करके पढ़ लो।"

उत्तर देते हुए बंटो पुनः उदास हो गया—"मैं परिश्रम से नहीं डरता, दीदी। आप मुझसे दिन-रात बैल की तरह काम लीजिए और कैसा ही काम दीजिए मैं प्रसन्न होकर करूँगा। पर ताने-बाने मुझसे नहीं सुने जाते।" वह विह्वल हो उठा—"मैं अनाथ हूँ। जिसके माँ-बाप नहीं होते हैं उसे कोई प्यार नहीं करता।" सहम कर उसने बाहर की ओर देखा और धीमे स्वर में कहा—"जिस घर में हम लोग रहते हैं वह मेरा ही है। आधे में किराएदार रहते हैं और आधे में हम। घर

के किराए से मुझे पैंतीस रुपए महीना मिलता है। वह रुपए मैं मामा-मामी को ही दे देता हूँ। स्वयं एक पाई भी नहीं छूता हूँ। उस पर परीक्षा के दिनों में भी घर का काम करना पड़ता है और बाहर बद-नामी होती है कि पढ़ने से जी चुराता हूँ।" वह जैसे अपने आँसू पीने के लिए चुप रहा। फिर रुँधे स्वर में बोला—"आप तो जानती हैं कि पढ़ना कितना महँगा है। जो धनी हैं और जिनके माँ-बाप हैं वहीं शिक्षा के अधिकारी हैं। मेरे लिए तो पलटन की नौकरी अच्छी है। मरूँगा तो ताने सहकर तो नहीं मरूँगा।" उसके चेहरे पर स्वाभिमान था।

"ठीक है, किन्तु तुम्हारी आयु और स्वास्थ्य? इतना संवेदनशील होकर कैसे काम चलेगा? व्यर्थ के तानों पर ध्यान देना मूर्खता है।" स्नेह से पुचकारते हुए उसने कहा—"मेरा कहना मानो तो अभी और पढ़ो। तुम्हें, संभव है, मालूम नहीं कि गरीब विद्यार्थियों के लिए 'सहा-यक कोष' होता है। उसके लिए प्रयास करो।"

"पर दीदी, सहायक कोष भी तो उन्हीं के लिए है जिनका कोई अपना है।" उसने गला खखारा मानो कुछ अटक गया हो—"मेरे आश्रयदाताओं ने तो स्पष्ट कह दिया है कि मेरे लिए करते-करते वे उजड़ गए हैं। अब या मैं ही घर में रहूँ या वे ही।"

रूपा को यह पूर्ण विश्वास था कि बच्चों से संबंध रखनेवाली संस्थाएँ और उसके अधिकारी-वर्ग अपने दायित्व के प्रति जागरूक हैं। इस आधार पर उसने सहायक कोष से आर्थिक सहायता दिलवाने का बंटो को आश्वासन दिया। साथ ही उसने उत्साह से लोगों के पास आना-जाना प्रारंभ कर दिया। जिसके बारे में भी वह सुनती कि वह सहायक कोष से मासिक वृत्ति अथवा किसी अन्य प्रकार की आर्थिक सहायता दिलवा सकता है उसी के पास पहुँचती।

किन्तु उसे पता चलने में देर नहीं लगी कि वह व्यर्थ परिश्रम कर रही है। थोड़े से रुपयों के लिए दर-दर ठोकर खानी पड़ेगी, यह उसके लिए कल्पनातीत था। किन्तु फिर भी उसने लोगों के यहाँ जाना और उनसे

प्रार्थना करना न छोड़ा।

वह रात-दिन बंटो की चिन्ता में घुलने लगी। उसके स्वभावतः प्रसन्न और उज्ज्वल चेहरे पर श्मशान की-सी उदासी छा गई। 'मैं स्वयं उसकी आर्थिक सहायता कर सकती हूँ किन्तु यदि उसके मामा-मामी को मालूम हो जाय तो दोनों के लिए बुरा होगा। बंटो में मैंने स्वयं जीवन के प्रति आस्था और आशा की लहर उत्पन्न की है। अब मैं ही कैसे उसे नष्ट करने का कारण बनूँ।' वह नित्य रात्रि को प्रार्थना करती—'भगवान् यह कैसी परीक्षा है! चाहते हुए भी मैं कुछ नहीं कर पा रही हूँ। अब तुम्हीं कोई मार्ग सुझाओ।'

बंटो नित्य ही उसके पास अपने भाग्य का निर्णय सुनने के लिए आता। रूपा के भाव से वह स्थिति भाँप लेता और इधर-उधर की बातें करके चला जाता।

रूपा की प्रार्थनाओं एवम् बंटो के भाग्य पर एक दिन विधाता पिघल गया। बंटो को याद आया कि पड़ोस के ताऊ जी चाहने पर बहुत कुछ कर सकते हैं। उसने साग्रह रूपा से कहा—"दीदी, यदि तुम ताऊ जी से कहो तो काम बन जाय।"

"ताऊ जी, कौन ताऊ जी? मैं तो उन्हें नहीं जानती।" रूपा ने विस्मय से उत्तर दिया।

बंटो ने अपनी तर्जनी से संकेत करते हुए कहा—"वह जो लाल रंग की कोठी में अपने बहू-बेटे के साथ रहते हैं। जो कोई भी उनके पास जाता है वह उससे बड़े स्नेह से बातें करते हैं और यथाशक्ति उसके काम में सहायता करते हैं।"

उसने कुछ देर सोचकर कहा—"ठीक है, मैं तुम्हारे साथ चली चलूँगी।"

रूपा के अव्यक्त कथन को भाँपते हुए बंटो ने कहा, "दीदी आपको कष्ट....।"

उसकी बात को अनसुनी कर वह बोली—"कष्ट! मेरा तो अनुभव

बढ़ रहा है । तुम तो जानते हो दो-चार व्यक्तियों से ही मेरी जान-पहिचान है । मैं अपने छोटे-से दायरे के अंध कूप में पड़ी थी । तुम्हारे बहाने सामाजिक जीवन और लोगों की मनोवृत्तियों का अध्ययन कर रही हूँ ।"

बंटों के साथ रूपा ताऊ जी के पास गई । सामान्य शिष्टाचार के बाद काम की बातें हुईं । ताऊ जी ने प्रयास करके उसे एक छोटी-सी सहायता दिला दी ।

रूपा समझती थी कि इतनी अल्प सहायता से बंटो का काम नहीं चल सकता, फिर भी वह संतुष्ट थी । वह चुपचाप कुछ अपने रुपए मिलाकर बंटो को दे देती थी और निश्चिन्त थी कि किसी को कुछ पता नहीं चल सकेगा ।

सामाजिक कीचड़ से दूर रहनेवाली रूपा को नहीं मालूम था कि दीवाल के कान होते हैं । पास-पड़ोस के लोग चुपके आपस में काना-फूसी करते—'आजकल तो रंग बदले हैं । एक बच्चे को पकड़ रखा है । पैसे के बल मोहिनी डाली है ।"

बंटो के द्वारा जान-पहिचान हो जाने के बाद ताऊजी अधिकतर शाम को उसके यहाँ आ जाते थे । एक बार कई दिनों तक वे नहीं आए और जब आए तो उदासीनता की मूर्ति बनकर । इतने ही दिनों में वे अधिक वृद्ध और दुर्बल लगने लगे थे । लगता था मानो काल वरण करने की तैयारी कर रहा है ।

उन्हें देखते ही एकदम रूपा के मुँह से निकला —"ताऊ जी, आपको क्या हुआ है । तबियत तो ठीक है ?"

दूर क्षितिज की ओर देखते हुए रुँधे कंठ से उन्होंने कहा—"यही तो रोना है बेटी । कुछ हो जाय तो छुटकारा न मिल जाय ।" दीर्घ निःश्वास के साथ श्रांत स्वर में वे बोले—"जीवन के इन बासठ वर्षों में सुख-दुःख, उल्लास-निराशा सभी कुछ तो देख लिया है । अब तो पतझड़ है । इच्छा, आशा और ममत्व-रूपी सूखे पत्ते समय-कुसमय खड़खड़ाकर मुझे कँपा देते हैं । लगता है अब कोई अपना नहीं है । अकेले जन्मा था अकेले

ही जाना होगा। जाने के दिन हैं, तभी तो पुत्र-बहू, पौत्र-पौत्री सभी विमुख हो गए हैं।"

रूपा रोते हुए-सी बोली—"ताऊ जी कैसी बातें करते हैं? आपके-से भाग्यशाली लोग कम होते हैं। रामी भाभी और भैया के शील-स्नेह ने पास-पड़ोस तक को मोह रखा है। भला जिसके ऐसे बेटा-बहू हों उसे क्या दुःख? आप कहें तो मैं भाभी से कहूँ, वह समझदार हैं।"

ताऊ जी घबड़ा गए, भर्राई आवाज में बोले—"नहीं बेटा, बहू से कुछ न कहना। अभी तो एक छत के नीचे रहते हैं, फिर वह भी कठिन हो जाएगा।" उनके होंठ हिलने लगे, वाणी को मुक्त करने के लिए बलपूर्वक उन्होंने शब्दों को बाहर फेंका—"तुम उस परिवार की झंझटों को नहीं समझ सकतीं जो भौतिक ऐश्वर्य पर खड़े होने का गौरव करता है। ऐसे परिवार में कामिनी और कांचन की माया रक्त के सम्बन्ध को तलवार की धार का सम्बन्ध बना देती है। लेकिन दोष किसे दूँ? मेरा अपना भाग्य!" बरबस ताऊ जी की आँखों से आँसू झरने लगे।

समवेदना से रूपा की आँखें छलछला उठीं। उसे लगा उसके हृदय को कोई मथ रहा है। वह अपने को भूलकर ताऊ जी के संदर्भ में अनुभव करने लगी। स्पष्ट रूप से उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि ताऊ जी के दुःख का क्या कारण है और वह इस दुःख को कैसे दूर कर सकती है? 'क्या मैं ताऊ जी के लिए कुछ नहीं कर सकती? ताऊ जी इतने वयोवृद्ध हैं कि न मैं उनसे कुछ पूछ सकती हूँ और न किसी बात का आग्रह ही कर सकती हूँ।'

रूपा की मानसिक उथल-पुथल चल ही रही थी कि ताऊ जी बोले—"जी चाहता है कि बेटे के घर का अन्न मुँह में न रखूँ। कहीं होटल में खा लूँ और पेड़ के नीचे पड़ा रहूँ। लेकिन अपना हाथ काट चुका हूँ। बेटे के कहने पर मैंने अपने सवा लाख के प्रोविडेण्ट फण्ड के नेशनल सर्टिफिकेट्स खरीदकर उसकी बहू और बच्चों के नाम रख दिए हैं।" वे कराह उठे—"अब मैं सर्वहारा हूँ। केवल वृद्धावस्था की दुर्बलता मेरे

पास है।"

रूपा हतप्रभ थी, 'दिया तले अँधेरा! जो दूसरों की सहायता करता है वह स्वयं इतना असमर्थ!' उसका गला भर आया। उसने तुरन्त ही अपने को संयत कर लिया और दृढ़ स्वर में कहा—"ताऊ जी, कैसी बातें करते हैं? क्या मैं आपकी पुत्री नहीं हूँ? आप सोचते हैं कि मैं मर गई हूँ!" चेहरे पर बाल-सुलभ चंचलता लाते हुए वह अपना स्वर तीखा कर बोली—"मैं बड़ी हठी हूँ। यदि आपने मेरा कहना न माना तो मैं रो-रो कर घर सिर पर उठा लूँगी। आज से आपको मेरे साथ खाना होगा अन्यथा मैं अनशन कर दूँगी।" उसने नैराश्य-भरे स्वर में कहा—"अकेले मुझसे खाना नहीं खाया जाता। आप मेरे साथ खाएँगे तो आपके कारण मेरा भी भला हो जाएगा।" वह याचना-भरे स्वर में गिड़गिड़ाई—"मेरे स्नेह के आग्रह को न ठुकराइए, ताऊ जी!"

रूपा चाहती थी कि वह अपना सर्वस्व निछावर करके ताऊ जी के स्नेह की रिक्तता के घाव को भर दे, 'मनुष्य अंतिम साँस शान्ति और संतोषपूर्वक न ले सके, इससे अधिक यातना क्या हो सकती है?'

परिचितों के सुख-दुःख में अपने को डुबो देने वाली एवं अपने स्वत्व को भूल जाने वाली रूपा यदि किसी वस्तु से निर्लिप्त नहीं हो पाई थी तो वह मिर्च, मसाला, अचार और सुस्वादु भोजन से। पर ताऊ जी की अवस्था के विचार ने उसे सात्विक भोजन खाना सिखा दिया। वह स्वयं ही तरह-तरह के हल्के किन्तु पौष्टिक खाने बनाती और ताऊ जी के साथ बड़े चाव से उन्हें खाती।

ताऊ जी का ध्यान जब इस ओर गया तो उन्हें बहुत बुरा लगा। रूपा के स्नेह और शील के आगे वह प्रणत थे फिर भी उनसे बिना कहे न रहा गया—"बेटा, तुम्हारी तो अभी खाने-पीने, पहिनने की उम्र है। मेरे लिए एक तरकारी उबलवा दो तो बहुत है। अपने घर में भी मैं यही खाता था।" और वह चुपचाप उसके सिर पर हाथ फेरने लगे।

रूपा ने कुछ देर अपने को उस आत्मीयता के सुख में डुबो रखा

और फिर हँस दी—"आपको मैंने बताया तो था कि जब मैं अकेले खाती थी तब अधिकतर दूध-डबलरोटी और खिचड़ी के सहारे रहना पड़ता था। बात यह है कि मुझे भारी खाने के लिए न तो रुचि है और न पचता ही है। उस पर डाक्टर ने भी मना किया है।" नाक ऊपर चढ़ाते हुए वह बोली—"छिः, न-जाने लोग मिर्च-मसाला कैसे खाते हैं?" वह झूठ बोली, पर झूठ के औचित्य की निष्ठा से उसका मुँह दीप्त हो रहा था।

लोगों ने देखा नियमित रूप से ताऊ जी रूपा के यहाँ खाने जाते हैं। दोनों एक-दूसरे के साथ खूब हँसते-बोलते हैं। और उन्हें यह देखकर महान् आश्चर्य होता था कि बुड्ढे के मुँह पर स्वास्थ्य की लाली दौड़ रही है। उनके संदेह की आग पर जैसे पूर्णाहुति पड़ जाती।

पड़ोस में एक संत आए थे। स्त्री-पुरुषों का समुदाय कीर्तन में तल्लीन था। एक अधेड़ उम्र की विधवा ने नाम-कीर्तन करते-करते सिर हिलाया और पास वाली स्त्री के कंधे पर हाथ रख कर अपना मुँह उसके कान के पास ले जा कर फुसफुसाई—"देखा, पड़ोस की रूपा का हाल! कोई न मिला तो बूढ़ा ही सही।" उसकी आँखें चमक उठीं—"न-जाने क्या जड़ी-बूटी खिलाती है कि बूढ़ा जवान होने लगा है।"

दूसरी ने उसकी बातों में रस लेते हुए माला फेरना बंद करके कहा—"अजी छोड़ो, कुलटाओं की बातें। वह जादूगरनी है। न बच्चों को छोड़ती है, न बूढ़ों को। ऐसों ही के मारे तो समाज में अनाचार फैल रहा है।"

पास ही बैठे एक सज्जन बड़े ध्यान से बातें सुन रहे थे। दार्शनिक गम्भीरता से धूप-छाँह दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोले—"स्त्री साक्षात् महामाया है। उसके रूप को देखकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी विचलित हो उठते हैं।" और पास बैठी हुई स्त्रियों की ओर सतृष्ण दृष्टि डालकर वे मुस्कराए।

रूपा ने यह सब सुना तो उसके सहज प्रसन्न आनन पर अवसाद

छा गया। उसने चुपचाप अपना हृदय टटोला तो उसे वहाँ कोई नहीं मिला, वह सूना था। उस नीरव एकांत में उसे लगा कि वह किसी की नहीं है। 'यह कैसी विडम्बना है?' उसे लगा कि दुनिया झूठी है।

इस भयंकर आघात से उसे चक्कर आने लगा। उसके सिर की नाड़ियाँ खौलते हुए रक्त के तीव्र प्रवाह से फटने लगीं। ऐसी स्थिति में हृदय की असह्य वेदना को सम्बल देते हुए उसकी आँखों के कोनों में आँसू उमड़ आए, मानो उसे इन आक्षेपों की शून्यता का बोध कराना चाहते हों।

मौसी

राजू के रंग-ढंग देखकर मौसी अवाक् रह गई। उसने आज राजू के उस रूप को देखा जिससे वह अभी तक बिलकुल अनभिज्ञ थी, जो उसकी कल्पना से परे था। फिर भी राजू को इस भाँति गुस्से में जाते देखना उसे अच्छा न लगा। उसका ममत्व उसे प्रेरित करने लगा कि वह राजू को बलपूर्वक रोक ले और अपना समस्त प्यार उड़ेलकर उसे समझाए कि वह अपनी बच्ची से अधिक प्यार उसे करती है। यद्यपि राजू उसकी दृष्टि में एक योग्य वर नहीं है, उसकी उच्छृङ्खल चित्त वृत्ति और आवेशपूर्ण स्वभाव उसके दाम्पत्य जीवन को कदापि सुखी न होने देंगे—तथापि उसका राजू के प्रति स्नेह उसकी इस मनःस्थिति को झंझा-वात की तरह झकझोरता हुआ कहता कि यदि उसके लाड़ले का विवाह किसी अन्य लड़की से हुआ तो वह सदैव के लिए उससे छिन जावेगा। सभी कहते हैं कि ब्याह के साथ बेटा पराया हो जाता है। तो क्या, यही राजू, जिसे कल तक उसने अपना माना है, ब्याह होने पर उसके घर में पैर तक न रखेगा?....और मौसी के अनुभव ने उसे बताया कि आज-कल की बहुएँ तो यह चाहती हैं कि लड़का मौसी-चाची, नानी-मामी की तो कौन कहे, अपने माँ-बाप को भी भूल जाए। ऐसी अनेक दुश्चिन्ताओं ने मौसी के मन को घेर लिया। वह व्याकुल हो उठी। घबड़ाकर अपने आपसे कहने लगी, 'राजू बेटा! नीरू बच्चा तो नहीं रही, सयानी हो गई है। पढ़ी-लिखी है, शील-गुण-सम्पन्न है। उसको वर की कमी नहीं है। कई अच्छे-अच्छे घरों ने बातचीत चलाई है। वह तो माँ का हृदय है जो नहीं मानता। किसी दूसरे घर में देना नीरू को पराया बना देना है। मेरे जीते-जी मेरी बेटी मुझसे छिन जाएगी। नीरू के होते हुए मैं

बिना नीरू की हो जाऊँगी। न मैं उसके पास रह सकूँगी और न वही अधिक समय तक मेरे पास रह सकेगी। साल में आठ-दस दिन के लिए आना कोई आना है? उस पर उसका दुल्हा क्या मुझे माँ का प्यार दे सकेगा?' कहते-कहते मौसी की आँखें आर्द्र हो गईं। वह आत्म-विस्मृति के गर्भ में डूब गई। अनायास ही उसकी दोनों बाहें फैल गईं और वह आगे को झुक गई। मानो, मा अपने वर्षों से खोए हुए बालक को गोद में छिपा रही हो। उसकी आँखें अपनी निर्मल दृष्टि से एकटक किसी को देखने लगीं और वह गद्‌गद कंठ से कहने लगी—'तुम तो बेटा, मुझे मौसी अथवा मा के समान मानते हो। हैं न, यह सच? तुम्हारे प्यार को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, संभव है, मैं नीरू के दाम्पत्य सुख को भूलकर उसे तुम्हें सौंपना चाह रही थी।' मौसी के माथे में पसीना आ गया। वह भयभीत-सी बोली—'तो वही हुआ जिसका मुझे भय था। राजू आजकल के लड़कों की ही तरह निकला। उसने मेरे प्रेम की पवित्रता को नहीं समझा। वह सोचता होगा—मौसी का आज तक का लाड़-प्यार दिखावा था, मुझे फँसाने के लिए जाल-मात्र।'

मौसी अपने-आपसे झुँझलाते हुए भुनभुनाई—'तभी तो, शानो, मैं तुझसे कहती थी कि तू मुझे ठीक सुझाव नहीं दे रही है। पर शानो है कि न मानी।'—बेटे के वियोग की अप्रत्याशित आशंका के दुःख से वह सिसक पड़ी और अपने को धिक्कारते हुए कहती गई—'मुझे न-जाने आज क्या हो गया था। न चाहते हुए भी मैं वह कर बैठी जो नहीं करना चाहिए था। शानो का क्या दोष? मैंने ही उससे सब बात छिपाई। उसे यह नहीं बता सकी कि मेरा राजू वैसा नहीं है जैसा मैं मोहवश बताया करती हूँ। उसकी भोगवादी प्रवृत्ति ने उसे मानवीय धरातल से नीचे गिरा दिया है। वह चलचित्रों और उपन्यासों के जीवन को आत्मसात् करने में प्रयत्नशील है। प्रत्यक्ष के पुजारी राजू के सम्मुख न भविष्य है और न समाज। उसकी आवेगपूर्ण प्रवृत्ति सब

प्रकार की मर्यादाओं के बन्धनों से मुक्त है।'

राजू को आजन्म अपना बनाने के लिए तथा उसे अपनी अतुल सम्पत्ति का अधिकारी देखने के लिए ही मानो मौसी अपनी एकमात्र संतान नीरू को भूल गई। अनायास ही राजू उसके भावी स्वप्नों का सम्बल बन गया था—उसकी एकमात्र पुत्री का जीवनाधार। नीरू की याद आते ही और उसके भावी जीवन की ओर ध्यान आकर्षित होते ही मौसी में असाधारण संयम आ गया। संयम ने उसे भावावेश से उठा कर वास्तविकता के धरातल पर खड़ा कर दिया और उसकी उद्विग्न चित्त वृत्ति को शांत कर दिया। एकाएक उसने सिर का पल्ला ठीक किया और सुस्थिर होकर बैठ गई। उसकी आँखों के आगे नीरू के सुखद जीवन का चित्र अपने रंग-बिरंगे रूप में मूर्तिमान हो उठा और उसे भाँति-भाँति से मोह कर आनन्दित करने लगा। जीवन के इस मनो-मुग्धकारी क्षण ने उसे नियंता की याद दिला दी। नियंता को न्याय-शील, दयालु और न-जाने क्या-क्या कह कर मौसी विनत हो गई। वह गद्‌गद कंठ से कहने लगी—'भगवान्, आज जाना मैंने कि तेरी दया अपरम्पार है। यदि तूने राजू की मति ऐसी न बना दी होती तो मैंने उनकी "थाती" के दाम्पत्य जीवन पर कुठाराघात करने के लिए सब-कुछ कर दिया था।' वह घबड़ाकर उठी। उसका पैर धोती में फँस गया। किसी प्रकार अपने को सँभालकर वह दौड़ी। और पूजा-घर में पहुँच कर ही साँस ली। उसने ठाकुर जी के आगे माथा टेका, धूप जलाई, आरती की—उसका रोआँ-रोआँ गुनगुना उठा—'दीनों के प्रतिपालक भगवान्....!'

गेहुँआ रंग लिये हुए छरहरे बदन की विधवा मौसी के भोलेपन और सौम्य सस्मित आकृति में एक विचित्र आकर्षण है जो छोटे बड़े सभी को मोह लेता है। उसके संवेदनशील स्वभाव तथा सहज समभाव ने उसे सबकी 'मौसी' बना दिया है। पति के समय से ही वह इस घर में रहती आ रही है और पड़ोस में रहने वाले, पति के अनन्य मित्र

शारदा बाबू की पत्नी के साथ उसका रात-दिन का उठना बैठना है। शारदा बाबू का पुत्र राजू मौसी की १७ वर्षीया पुत्री नीरू से सात-आठ साल बड़ा है। बचपन से ही राजू का इस घर में आना-जाना लगा है। वह मौसी के घर में उतनी ही स्वतन्त्रता और निर्भयता से घुलता है जैसे कि अपने घर में। मौसी भी उसे अपना देखने की इतनी आदी हो गई थी कि यदि वह कभी नहीं आता तो उसे बुला भेजती। राजू को देखते ही मौसी का मुँह खिल उठता। उस समय मौसी का मूक व्यक्तित्व अपने-आपको भूल जाता। जीवन के प्रति अदम्य उत्साह, लालसा एवं जिज्ञासा पर सामान्यतः वह जो गांभीर्य का आवरण डाले रहती वह राजू की उपस्थिति में अपने आप हट जाता। उसका मातृत्व मुखर हो जाता और बिना किसी दुराव के वह दुनिया भर की बातें करती। उसका इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि राजू पराया है, दूसरे की संतान है। राजू को अपना माननेवाली मौसी जब प्रार्थना करती, राजू और नीरू दोनों के शुभ के लिए समान रूप से हाथ जोड़ती। आखिर दोनों ही उसके अस्तित्व के अभिन्न अंग थे।

राजू की पढ़ाई पूरी हुई तो वह एक अच्छी नौकरी पा गया और नीरू की पढ़ाई पूरी होने के साथ मौसी को उसके विवाह की चिन्ता ने आ घेरा। नीरू के [illegible] और [illegible] एवं सलज्जता ने स्वयं ही योग्य वरों को आकृष्ट कर लिया, किन्तु माँ का हृदय अपनी एकमात्र संतान को आँखों की ओट में नहीं रखना चाहता था। शहर में ही कोई अच्छा लड़का मिल जाय इस आकांक्षा से उसने पास-पड़ोसियों से कहना शुरू किया—"कोई अच्छा लड़का दीखे तो बताना। मैं असहाय हूँ, कहाँ खोजूँ? नीरू के बाबू जी के न होने से अपने आप सब कुछ करते हुए डर जाती हूँ। कहीं मेरी नासमझी से नीरू का जीवन नष्ट न हो जाय....।" ऐसे अवसरों पर अधिकतर मौसी का गला भर आता और वह आँचल से आँसू पोंछने लगतीं। जब एक दिन वह अपनी बाल-सखी शानो को अपनी स्थिति समझा रही थी तो वह मौसी की नादानी पर

हँसती हुई बोली—"क्या हो गया है राजो तुझे ! रतौंधी तो नहीं हो गयी ? घर में लड़का है और तुझे दीख नहीं रहा है । तू समझती है कि राजू जो मौसी-मौसी करते हुए दिन-रात तेरे यहाँ आया करता है वह तेरे स्नेह का भूखा है ! अरी पगली, नीरू का आकर्षण ही उसे यहाँ खींच लाता है । भला लड़के सयाने होकर अपने माँ-बाप से नहीं बोलते, मौसी को कौन पूछे ! तू ही बता, राजू को नीरू-सी लड़की कहाँ मिलेगी और नीरू को राजू-सा लड़का ।"

शानो के मुँह पर हाथ रखते हुए घबड़ा कर मौसी बोली—"चुप-चुप, कोई सुन लेगा ।" तनिक रुककर, धीमे से साँस छोड़ती हुई वह सोचने लगी—'काश, दोनों ही मेरे हो कर मेरे पास रह पाते । नीरू का विवाह बाहर होने से मेरा जीवन एकाकी हो जाएगा ।'

शानो की बात अनजाने ही मौसी के मन में पैठ गयी और वह उसके स्वप्नों की वाणी बन गई । ऊपरी मन से आनाकानी करने पर भी उसे उसके कथन में अपने भावी जीवन के लिए प्रकाश दीखा जो आज की परिस्थिति का प्रेरक बना । यही कारण है कि न-जाने किस भावावेश में आकर उसके उपचेतन ने राजू के सामने वह कहला दिया जिसकी ग्लानि उसे आजन्म कचोटती रहेगी ।

मौसी का हृदय ग्लानि और पश्चाताप से भर गया । वह मन-ही-मन रोने लगी। रोते-रोते उसे सूझा कि क्यों न राजू को बुलाकर समझा दे कि वह उसे पुत्रवत् प्यार करती है । उसका प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता । नीरू से उसका विवाह होना-न होना उसके स्नेह में बाधक नहीं बन सकता । वह राजू से कहना चाहती थी कि मैं सौगंध खाकर कहती हूँ कि यदि नीरू तुम्हारे अयोग्य होती तो मैं सब कुछ सह लेती किन्तु तुमसे कुछ न कहती—तुम्हारे गले मढ़ने की बात तो दूर है । तुम्हारा बुरा चाहना....। मौसी अधिक न सोच पाई । वह वेदना से द्रवित हो गई ।

दूसरे दिन मौसी ने राजू को बुला भेजा । वह आया, अन्यमनस्क-

सा। उसको देखते ही मौसी की वाणी रुक गई। विचार मानो हवा में उड़ गए। वह अज्ञात प्रेरणावश मनाने लगी, 'सब कुछ अपने आप व्यक्त हो जाता और परिस्थिति पूर्ववत् हो जाती तो कितना अच्छा होता। काश, मा के वक्षस्थल में वह शक्ति होती कि अपने को अभि-व्यक्ति दे सकता, केवल यह दिखा सकता कि वह कितना निर्मल और निश्छल है।'

राजू मानो अपना धैर्य खोकर आया था। एक क्षण के लिए भी चुपचाप बैठना उसके लिए असह्य हो गया। वह बार-बार पूछने लगा कि उसे क्यों बुलाया है? लाचार मौसी ने किसी भाँति फीकी हँसी हँस कर कहा—"यों ही, बुलाने में कोई हानि है? वैसे, मैं तुमसे कहना चाह रही थी कि तुमने मुझे समझने में भूल की। जिस भाँति तुम नीरू के साथ हँसते-खेलते हो, मुझे लगा कि तुम उसे चाहते हो और—" तनिक रुक कर कुछ झिझकते हुए उसने कहा, "मुझे यह भी लगा कि तुम लोग एक दूसरे के योग्य हो। मैंने कल तुम्हें यही बतलाना चाहा कि यदि तुम उसके साथ संबंध स्थापित करना चाहो तो...."

राजू अधिक कुछ सुनना नहीं चाहता था अथवा उसका अस्थिर मन कहीं और ही भटक रहा था। बीच में ही मौसी की बात काटता हुआ वह रूखे स्वर में बोला—"रहने दो, मुझे कुछ नहीं सुनना है। अब इस बात को सदैव के लिए बन्द कर दो।" मौसी को आगे इस बात को छेड़ने के लिए मना कर देने पर भी राजू को संदेह हुआ और इस अप्रिय प्रसंग से मुक्ति पाने के लिए उसने अनायास ही मौसी को मर्मां-तक पीड़ा पहुँचा दी। एक विचित्र हँसी के साथ वह कह उठा—"मरे वह, तुम्हारी लड़की!" कहने के साथ ही राजू ने मौसी के विवर्ण चेहरे पर अपनी दृष्टि डाली और वह काँप उठा। मौसी के विषादयुक्त आहत नेत्रों के आगे उसका बाण ठहर न सका। उसके श्मशान-भाव को भाँपते हुए उसने उसके सामने घुटने टेक दिए। इस दुःखद प्रसंग से विगलित होता हुआ-सा वह बोला—"मौसी, तुम मुझे बहुत बुरा समझती

हो, ना ? मैं अपने दायित्व और कर्तव्य के लिए सचेत हूँ। तुम कहोगी तो मैं अच्छा लड़का खोज दूँगा। नीरू को मैं अच्छा मानता हूँ परन्तु वैसे नहीं।"

अपने हाथों को पैंट की जेब में डाल कर वह कमरे में उद्भ्रांत-सा टहलने लगा। थोड़ी देर बाद न जाने क्या सोच कर उसने झुक कर मौसी के दोनो हाथ पकड़ लिये, जो बरफ की तरह ठंडे थे, और उसे अनिमेष दृप्त दृष्टि से देखते हुए मुस्करा पड़ा—"यही है, तुम्हारी अक्ल मौसी ! मैं तो समझता था कि तुम अनुभवी हो, सब कुछ समझती हो। तो मैं आज तक भ्रम में रहा।" दीर्घ निःश्वास के साथ वह बोला—"मैं तो इसीलिए आता था कि मुझे देखकर तुम प्रसन्न हो जाती हो; और सच कहने में क्या हानि, मुझे तुम अच्छी लगती हो। मैं तो तुम्हारे लिए, केवल तुम्हारे लिए यहाँ आता हूँ।" फिर संयत होकर उसने कहा—"किन्तु इसके लिए मैं अपने को दोषी नहीं मानूँगा। तुम्हारे व्यक्तित्व में इतना आकर्षण क्यों है ? न चाहने पर भी उससे खिंचा हुआ मैं तुम्हारे पास आ जाता हूँ। पुरुष का नारी के प्रति आकर्षण और नारी का पुरुष के प्रति आकर्षण ही तो जीवन और सृष्टि के मूल में है। तुम विश्वास नहीं कर रही हो ? सोचती हो कि यह कपोल कल्पित बातें बना रहा है। धर्म और सदाचार की पुस्तकों का अध्ययन करके तुमने अपने दृष्टि-कोण को संकीर्ण और कुंठित बना दिया है। मैं तुमसे याचना करता हूँ कि अपने अनुभव और अध्ययन को व्यापक बनाओ, जीवन को आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखना सीखो, जिसकी गहराइयों का चित्रण तुम्हें आज के साहित्य में भरा पड़ा मिलेगा।" सहसा आवेग और प्रसन्नता से उसकी वाणी तीव्र हो गई—"मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रभूत प्रयोगों से यह प्रमाणित कर दिया है कि सदाचार, नियम निष्ठता आदि की धारणाएँ मानसिक ग्रंथियों की उपज हैं। सफल प्रेम बिना आकर्षण के सम्भव नहीं है। यही कारण है कि मैं नीरू से विवाह नहीं कर सकता। मैं उसकी सुन्दरता और सरलता का प्रशंसक हूँ पर वह मुझे मुग्ध और

आकर्षित नहीं कर सकती।"

अपने बारे में बताते-बताते राजू तनिक गम्भीर-सा होता हुआ बोला—"प्यार का सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो केवल तृप्ति चाहता है, देह का मिलन-मात्र है। तुमसे दूर होते हुए भी मैं तुममें मिल जाना....।" और भी न-जाने वह क्या-क्या कहता गया। मौसी ने मानो कुछ सुना ही नहीं। वह कुछ नहीं बोली। बीच-बीच में वह कानों पर हाथ रखकर अवश्य सिहर उठती थी। वास्तव में उसका सिर भन्ना रहा था, हृदय पर कोई हथौड़ी से बराबर चोट कर रहा था, 'मरे वह, तुम्हारी लड़की!'

परिस्थिति का भास होते ही मौसी का अपत्य प्रेम आतंकित हो उठा। उसने वितृष्णा से मुँह फेर लिया। उसके मानस में एक ही प्रश्न अनवरत उठ रहा था, 'क्या? जिसे मैंने अपना समझा था वही मेरे जीवन-प्राण के लिए....।' मौसी के आँखों तले अँधेरा छा गया। वह चुपचाप पूजा घर में चली गई।

प्रकृति का पुत्र

एक विचित्र अभाव, ममत्वहीनता और स्नेहशून्यता के वातावरण में उसका जन्म हुआ था। उसके पैदा होने के समय न तो माँ ने मृदु मुस्कान दी, न शंखध्वनि हुई, न बधावे के गीत गाए गए, न वसंत ने अपनी मधुर वायु से वातावरण सुगंधित किया और न ऊषा ने ही अपने गुलाबी आँचल को फहराकर उसका स्वागत किया।

जेठ की तवे की तरह जल रही दुपहरी के निःस्पंद मौन में ईश्वर प्रदत्त उसके नीड़ को कृत्रिम साधनों से क्षत-विक्षत किया गया और उसे उसके नैसर्गिक स्थान से बरबस खींचकर डाक्टरनी ने अपने हाथों में ले लिया। नर्स ने जब उसके मुँह पर पानी का छींटा मारा तो उसने सकपकाकर आँखें खोल दीं मानो वातावरण में लक्षित नैराश्य से घबड़ा उठा हो।

बाह्य प्रकृति अंधड़ की प्रतीक्षा कर रही थी। अंधड़ आने के पूर्व वायुमण्डल में जो तनाव, आकाश में धुँधलापन तथा सर्वत्र निःस्तब्ध घुटन-सी रहती है वह उस समय वर्तमान थी—प्रकृति और उसके व्यापार इस वियोगांत नाटक की भूमिका में मानो नटी और सूत्रधार का कार्य कर रहे थे। पहिले ही दृश्य में प्रसव की असह्य पीड़ा ने माँ को निःस्पंद कर दिया अथवा उसने स्वयं बच्चे के अमंगल की आशंका को अपने ऊपर लेकर आँखें मूँद लीं।

माँ की यह निर्ममता परिवार वालों के लिए असह्य हो गई। यदि माँ उसे निरवलम्ब छोड़ गई है तो और तो अपने दायित्व से विमुख नहीं हो सकते। उनका प्यार एकत्रित होकर बच्चे के प्रति उन्मुख हो गया और वह परिवार का लाड़ला बन गया।

माँ की छत्रछाया न होने के कारण उसे परिवार में एक विशिष्ट स्थान मिल गया। उस पर परिवार के और बच्चों की तुलना में अधिक ममत्व बरसने लगा। उसके अभिभावक चेष्टा करते रहते थे कि माँ के प्रेम का अभाव उसे प्रतीत ही न हो। माँ के न होने से क्या होता है? संपूर्ण परिवार का प्यार, दया और करुणा तो उसी की ओर प्रवाहित होती है। किसी विशेष संरक्षक के न होने के कारण सभी उसके संरक्षक बन गए थे।

परिवार की समष्टि का यह प्यार हार्दिक न होते हुए भी प्यार तो था ही। जिस क्षण जिसे उसका ध्यान आता, उसका मुँह देखकर अथवा यों ही, दया से अभिभूत हो जाता। अनाथ को सनाथ करने की इच्छा से प्रेरित होकर वह उसका काम कर देता—खिलाना, नहलाना तथा कपड़े बदलना। आखिर, उसके अभावों को किसी भाँति पूर्ति तो करनी ही थी।

उसका बचपन बीता, अच्छाइयों और बुराइयों को लपेटे हुए। कोई भी घटना इतनी तीव्र न थी जिसे कि वह ध्यान में रखता। पर, यह कहना भी, संभव हो, अनुचित है। सामान्य बुद्धि का बालक छोटी आयु में कितना निर्बोध होता है! अपने अल्हड़ भावों और सहज कर्मों के अनवरत प्रवाह में विशेष रूप से किसी बात को ध्यान में रखने का उसे अवकाश ही कहाँ मिलता है। उस पर आँसुओं की स्वच्छन्द नदी स्वभाव-जन्य आवश्यकताओं, हृदय की पीड़ा, प्यार की चाह, इन सभी को अपने साथ बहा ले जाती है।

इच्छाएँ बन कर मिट जाती हैं, मन मचल कर रह जाता है और हाथ-पैर बार-बार पटके जाने से थक जाते हैं। कुछ की डाँट पड़ती है, तो कुछ की मार और कुछ का प्यार मिलता है। यह सभी समय-समय पर हृदय की पाटी पर अंकित होते रहते हैं और यदि वेदना तीव्र हुई तो सिसकियों के कुहासे से स्वप्नों की परी चुपचाप आकर उसे पुचकार जाती है। अवचेतन में यदि दुःख अपना धूमिल प्रतिबिम्ब छोड़ भी जाए

तो अबोध शिशु से उसका क्या सम्बन्ध ? उसके बाल-मानस में तो नित्य नई कल्पना आकर आनन्द की हिलोरें भर देती है ।

किन्तु माँ के सहज प्यार की तीव्रता, स्वच्छता, गहनता और एक-निष्ठता की पूर्ति क्या परिवार का दया और कर्त्तव्यबोध से उत्पन्न प्यार कर सकता है ? स्नेह के अविरल बहते हुए स्रोत का काम क्या बरसाती नाला कर सकता है ? माँ के प्रेम की अखण्ड बाती जिस प्रकाश का संचार कर देती है क्या उस ज्योति का संचार स्नेह की टिमटिमाती बातियाँ कर सकती हैं ?

अनजाने में ही उसके अवचेतन ने उसके हृदय को डस लिया । कृत्रिम छिछले प्रेम ने उसे अजनबी बना दिया । परिवार के स्नेह और ममत्व के कणों का कृपण दान उसे मरुस्थल में मृगजल-सा लगने लगा । वह प्रेम का प्यासा हो गया ।

इस प्यास को बुझाने के लिए उसने प्रकृति की शरण ली । पर जिसका हृदय विशुद्ध प्राकृतिक रस से सिंचित ही न हुआ हो उसे प्रकृति कैसे मोहती ? प्रकृति के रंग-बिरंगे फूल उसे तितलियों की भाँति स्वच्छन्द उड़ान भरना न सिखा सके; इन्द्रधनुष प्रेयसी की सतरंगी साड़ी का स्मरण न दिला सका; हिम से आच्छादित गगनचुम्बी पहाड़ उसे प्रिय का संदेश नहीं दे सके और न समुद्र की उत्ताल तरंगें उसमें अज्ञात गुदगुदी उत्पन्न कर सकीं । इन सबमें वह खोया-खोया अनुभव करता मानो दूर देश का वासी हो—कुबेर द्वारा निष्कासित यक्ष हो ।

अनचाही परिस्थितियों के परदेस में ही न-जाने कब उसका बाल्य-काल बीत गया और यौवन आ गया। यौवन ने उसकी सोई हुई प्रवासी जीवन-आकांक्षा को जगा दिया । उसे बता दिया कि वह एकाकी और निरवलम्ब है । इस अभाव के बोध ने उसमें एक तीव्र चाह उत्पन्न कर दी । वह आलम्बन की चाह थी—समुद्र-सी गहन और निस्तल !

वसन्त लहलहा उठा । मदन अपनी मंजरियों समेत आ गया । पुष्पबाण के छूटनें की देर थी कि वह एक युवती की ओर आकर्षित हुआ

और वेग से उसके प्रेमपाश में फँस गया। कलियों के जीवन की सार्थकता उनके पुष्पित होने में है तो अपूर्ण प्रेम की पूर्णता प्रेमपात्र की प्राप्ति में।

अखण्ड प्रेम की आकांक्षा ने उसे सब कुछ भुला दिया। यदि जीने में कोई सत्य है तो प्रेम! वह नारी को अपनाने का आकांक्षी हो गया और उसने उसे अपना लिया। पर मात्र अपना बनाकर ही क्या होता है? वह उसका सब कुछ हर लेना चाहता था। उसके अस्तित्व को अपने में ही मिला लेना चाहता था। स्वाति नक्षत्र का बूँद-भर जल उसकी तृष्णा के लिए पर्याप्त न था—वह तो भौंरे की भाँति सब रस पीकर मदोन्मत्त हो जाना चाहता था। पृथकता उसे सह्य न थी, क्योंकि वह प्यार को खण्डित कर देती है। पर नादान परदेसी! देह, कर्म, अस्तित्व, व्यापार और सम्बन्धों की भिन्नता के बिना तो प्रिय और प्रेयसी के मिलन की व्याकुलता और पूर्ति दोनों ही असम्भव हैं। तभी तो नारसिसस अपने ही प्रतिबिम्ब की प्रेमाग्नि में भस्म हो गया।

प्रेम की अदम्य लालसा ने उसे इस विभिन्नता को मिटाने के लिए आकुल कर दिया। वह बच्चे की भाँति नारी रूपी गुड़िया को अधिकृत कर लेने पर तुल गया।

उसका मन कार्य से हट गया, आँखों पर नारी छाई रहती। जीवन की वास्तविकता से बाधित होकर ऑफिस जाता, पर, मन उखड़ा-उखड़ा रहता। लगता कहीं कुछ चुभ रहा है। वह नहीं चाहता था कि उसकी प्रेयसी दूसरों से बातचीत करने के क्रम में उसकी स्मृति को भूल जाए। प्रेम के अखण्ड दीप का स्नेह कम न पड़ जाए, चुक न जाए—इस आशंका से त्रस्त होकर वह तीन-चार बार घर फोन करके पूछ लेता कि क्या कर रही हो, तबियत तो ठीक है, कोई आया तो नहीं है? और यदि उसके दुर्भाग्य से कोई आया होता तो वह बार-बार अपनी पत्नी को सतर्क करता कि देर तक बातें न करना, थक जाओगी।

प्यार के बँट जाने के भय से वह समाज से घृणा करने लगा। वह अपने ही निकट सम्बन्धियों और मित्रों से दूर हो गया। वह अपने उन

सभी लोगों से ईर्ष्या करने लगा जो उसी के नाते उसके प्यार से स्नेह व्यवहार रखते थे। अपने सास-ससुर, साले-सालियों तथा पत्नी की सहेलियों, सभी से उसे घृणा हो गई। यदि वे उसकी अनुपस्थिति में घर आते तो उसे कुढ़न होती कि वह तो फाइलों के साथ जूझ रहा है और घर में उसका प्यार बँट रहा है। और यदि उसकी उपस्थिति में आते तो उसकी मानसिक व्यथा का क्या कहना! वह दुःखी हो जाता और अन्यमनस्क-सा कमरे ही में टहलने लगता। उनके पूछने पर रुखाई से उत्तर देता कि मैं अस्वस्थ हूँ, विश्राम करना चाहता हूँ।

प्रेम की इस विचित्र एकांतिक चाह के कारण वह कई बार अपने प्यार पर झुँझला उठता कि तुम दूसरों के पास क्योंबैठती हो, मैं नहीं चाहता कि तुम दूसरों से बातें करो। क्या मैं तुम्हारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर देता हूँ जो तुम्हें दूसरों के साहचर्य और मित्रता की आवश्यकता पड़ती है? मेरे अतिरिक्त जब कोई भी अन्य व्यक्ति तुमसे बोलता है तो मुझे प्रतीत होने लगता है कि हमारे प्रेम के बीच एक दीवाल खड़ी हो रही है। जब मैं तुम्हें प्यार करता हूँ तो वे तुमसे क्यों प्रेम रखना चाहते हैं? तुम एकमात्र मेरी हो और मेरा तुम पर पूर्ण अधिकार है। तुम्हारी माँ और बहिनें तुम्हें छुएँ यह मैं नहीं देख सकता। मेरी वस्तु के साथ दूसरा सुखभोग करे और मैं बैठा मुँह ताकूँ!

उसका प्यार, प्यार की इस अनुरणता से मन-ही-मन त्रस्त हो उठा। वह चक्कर में पड़ गया। यह प्यार की कैसी माँग है—साँसों पर भी नियन्त्रण!

अपने प्यार पर एकाधिकार की तीव्र चाह के वशीभूत होकर वह भावी शिशु की ओर से भी विमुख हो गया। उसे अपने ही स्वत्व के प्रतिरूप से घृणा हो गई। यह प्रतिरूप उसके सम्मिलित जीवन की अनन्यता के लिए घातक है क्योंकि पत्नी का प्यार बच्चे और पति के बीच बँट जाता है। वह पति को सम्पूर्ण समर्पण नहीं कर पाती। वास्तव में वह बच्चे की माँ मात्र रह जाती है।

किन्तु उसके न चाहने से क्या होता? उसके प्यार को माँ बनना था और एक दिन उसे इसकी सूचना मिली। एकनिष्ठ प्रेम की चाह ने उसकी ईर्ष्या को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। अपने प्रतिद्वंद्वी के लिए एकमात्र दण्ड मृत्युदण्ड है। उसने भ्रूण-हत्या करवाने का निश्चय किया।

अपने प्यार को अपना निश्चय बिना बताए ही वह अपने परिवार के डाक्टर के पास गया। उसकी मिन्नतें कीं और गिड़गिड़ाया। किन्तु वह न माना। लाचार वह दूसरे डाक्टर के पास गया। उसे अनेक प्रलोभन दिए और न-जाने कितनी सच-झूठ बातें बनाईं। संभव है उससे कहा कि वह उसका अंश नहीं है और इस भाँति किसी प्रकार उसे मना लिया।

उसकी पत्नी को उसके इस षड्यंत्र के बारे में जब पता लगा तो वह घबड़ा उठी। मानसिक द्वंद्व की स्थिति में मातृत्व ने पत्नीत्व पर विजय प्राप्त कर ली और मातृत्व की रक्षा के लिए वह उसी शाम चुपचाप घर छोड़ कर चली गई।

वह अकेला रह गया। न कुछ सोचने, समझने और न कुछ ईर्ष्या करने के लिए ही बचा रहा। प्यार के अकल्पनीय व्यवहार ने उसके अभाव की पीड़ा को उग्र और कराल रूप दे दिया।

उस रात प्रकृति का वही रूप उसे आश्रय देने आ गया जो कि उसके जन्म के समय वर्तमान था—भयंकर अंधड़ ने न जाने कितने घरों की छतें उखाड़ कर फेंक दीं और विशाल पेड़ों को गिरा दिया। धू-धू, साँय-साँय करके चलनेवाली वेगवती झंझा ने नदियों के हृदयों को चीत्कारों से मंथित कर दिया—वे क्रुद्ध सर्पों के समान उफनाने लगीं।

प्रकृति के इस रूप ने उसे आज प्रथम बार आकर्षित किया। अपने आंतरिक कोलाहल का प्रतिबिम्ब ही उसे बाह्य जगत में दीखा। वह मोहित हो उठा—अपने हृदय के इस तूफान से मिलने के लिए मंत्र-मुग्ध हो बाहर दौड़ा। माँ प्रकृति दयार्द्र हो उठी—उसने उसे सदैव के लिए अपने अंचल में छिपा लिया।

पिंचू

वह अकेली थी। उसके अकेलेपन को चीरते हुए एक दिन पिंचू आ गया। पर पिंचू उसे फूटी आँख नहीं भाया। "सवेरे-सवेरे कलमुँहा न जाने कहाँ से आकर बिस्तर पर सो जाता है," वह दूर से ही कलमुँहे को अपनी चारपाई पर देखकर डण्डा लेकर दौड़ती।

कलमुँहा कम चतुर न था। वह छलाँग मारकर भाग जाता। कलमुँहे की पीठ पर वेग से डण्डा मारकर उसके मुँह से 'कें....' सुनने की उसकी बलवती इच्छा रह जाती और कल मुँहे की भयभीत छलाँग में अपनी विजय देखकर वह मुस्करा देती। यह अकस्मात् आ पड़ा काम उसे धीरे-धीरे स्वाभाविक लगने लगा। वह अपने बिस्तर की ओढ़ने और बिछौने की दोनों चादरें और तकिये का गिलाफ निकालकर गंदे कपड़ों के बकसे में डाल देती मानो इतवार को धोबी की प्रतीक्षा में कपड़े इकट्ठे कर रही हो।

पिंचू अज्ञात रूप से उसको अपनी सहचरी मानने लगा था। विवेकशून्य प्राणी यह समझने में असमर्थ था कि प्रेम बरबस किसी पर लादा नहीं जा सकता। डण्डे को देखकर और दुतकारा जाने पर भी वह अपना अपमान नहीं समझता था। उसका प्रेम उस पराकाष्ठा तक पहुँच गया था जब प्रेमी प्रेयसी से किसी बात की याचना नहीं करता। प्रेमिका की भ्रू-भंगिमा उसे मधुर विलास-सी जान पड़ती है और उसका पद-प्रहार पुष्प-वर्षा के समान।

प्रेयसी को प्रिय की अनधिकार चेष्टाएँ बहुत बुरी लगीं। वह उससे सतर्क रहने लगी—चौबीसों घण्टे यही सोचा करती कि कैसे पिंचू की छाया घर में न पड़े। वह द्वार बंद रखती, प्रातः उठते ही बिस्तर लपेट लेती

और खाने की जूठन टेढ़े-मेढ़े कटे हुए छोटे मुँह के कनस्तर में डलवाती।

किन्तु पिंचू अपने आराध्य की सेवा के लिए सब-कुछ न्योछावर कर चुका था। अपनी भक्ति की पवित्रता के कारण उसने कुछ-कुछ हनुमान जी की सी शक्तियाँ अर्जित कर ली थीं।

घर में आने-जानेवालों को शीला ने समझा दिया था कि जब अन्दर बाहर आएँ-जाएँ तो उतना ही दरवाजा खोलें जितने में वह जल्दी से बदन सटाकर निकल सकें।

दरवाजे पर खट-खट होने पर शीला पहिले खिड़की से देख लेती कि आसपास पिंचू तो नहीं है और भली-भाँति निश्चिंत होने पर ही दरवाजा खोलती। पिंचू के अन्दर आने के भय से वह दिन में नहीं सोती। यदि झपकी आ ही जाती तो जरा-सा खटका होने पर वह चौंक उठती और जल्दी-जल्दी चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर देख लेती।

किन्तु पिंचू की अदृश्य शक्तियों के आगे उसकी सूझ-बूझ व्यर्थ थी। जब भी कोई आता जैसे महरी, भंगिन, कोयलावाला, लकड़ीवाला, धोबी, यहाँ तक कि इष्ट-मित्र भी, तो पिंचू, न-जाने कैसे, दुम दबाकर उनके पैरों के बीच से होता हुआ उनसे पहिले ही अन्दर घुस आता मानो मसक रूप धर के हनुमान जी लंका में प्रवेश कर रहे हों।

घर में घुस आने के बाद पिंचू एकदम बहरा हो जाता। किसी के भी कहने का उस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। कितना ही डाँटो, दुतकारो, वह एक मिनट ठिठककर, दाएँ-बाएँ मुड़कर, चकमा देता हुआ घर में न-जाने कहाँ जाकर छिप जाता। अवसर पाकर कनस्तर को उलट-पुलट कर जो-कुछ भी उसे मिलता वह बिना ना-नच किए खा लेता और लपेटे हुए बिस्तर पर ठोड़ी के बल सिर रखकर सो जाता। भला इस धृष्टता के आगे कोई क्या करे।

लाचार शीला ने पिंचू के लिए दरवाजा बन्द रखने का बन्धन हटा दिया—वह स्वतंत्रतापूर्वक आ-जा सकता था। किन्तु इसका अर्थ यह

तो नहीं था कि वह उसके सभी उत्पातों को सह लेती। अतः पिंचू के अन्य उपद्रवों के लिए वह पूर्ववत् सतर्क रहती।

जूठन पहिले की भाँति छोटे मुँह के कनस्तर में ही पड़ती थी। पिंचू उसमें मुँह नहीं डाल सकता था। उसके किनारे बुरी तरह से कटे हुए होने के कारण वे उसके मुँह में लगकर घाव कर देते थे। प्रारंभ में एक-आध बार पिंचू ने अपनी पशु-बुद्धिवश कनस्तर में मुँह डालने का प्रयास किया किन्तु थोड़ा-सा डालने पर ही किनारों के चुभने के कारण उसने तुरन्त मुँह बाहर निकाल लिया।

तब से पिंचू के कनस्तर में मुँह डालने की ओर से वह निश्चिंत हो गई और उसे यह देखकर एक कुटिल आनन्द मिलता कि रोटी के दो सूखे टुकड़ों के लिए पिंचू को कनस्तर उलटने-पुलटने में पर्याप्त व्यायाम करना पड़ता है। वास्तव में, इस व्यायाम को देखने की वह अभ्यस्त हो गई थी और दोपहरी के पन्द्रह-बीस मिनट आनन्द से इस घरेलू ड्रामा को देखने में बिता देती। यह प्रहसन और भी चलता किन्तु—

एक दिन न-जाने पिंचू को क्या सूझा कि उसने कनस्तर में मुँह डालने का भयंकर दुःस्साहस कर दिखाया। संभव है प्रेयसी से छेड़-खानी करने अथवा अपने शौर्य के प्रदर्शन द्वारा उसे रिझाने के अभि-प्राय से! वह दौड़कर बाहर से आया और देखते-न-देखते उसका मुँह कनस्तर के अन्दर पहुँच गया—कनस्तर के किनारों से रक्त बहने लगा और उसके अन्दर से पिंचू की व्यथा-भरी पुकार!

वह विचित्र असमंजस में पड़ गई। अब यह कलमुँहा मरता है—लाश! लाश का क्या होगा? कौन फेंकेगा? म्यूनिसपेल्टीवाले न जाने कब तक आएँगे और मैं लाश के साथ अकेली इस घर में! उसे लगा कुत्ते की रूह उससे चिपकने आ रही है और खून....। वह भय से त्रस्त हो गई। घबड़ाकर उसने नौकरों को आवाज दी।

पिंचू की प्राण-रक्षा के लिए सब कुछ किया जाने लगा। टीन काटने

वाले को बुलाया गया और वह टीन काटने का औजार लेकर आ गया। किन्तु पशु अपनी आदतों से बाज न आया। सहानुभूतिवालों के प्रति कृतज्ञ होने के बदले वह अपनी टीन में फँसी गर्दन को ऊपर करके चारों ओर भागने और गले से कर्णवेधी ध्वनि करने लगा। लोगों ने उसे बलपूर्वक पकड़ा। लेकिन वह दर्द तथा भय से फटे बाँस की भाँति चें....चें....करता जा रहा था। एक ओर पिंचू की चें....चें....और दूसरी ओर उसे मुक्त करनेवालों की उत्तेजना तथा तमाशा देखनेवालों की हा-हा, ही-ही इन सब ने मिलकर थोड़ी देर के लिए खासा कोहराम मचा दिया।

पिंचू मुक्त हुए तो सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि अभ्यागत को—चाहे वह किसी रूप में आए—ठीक तरह से एक रोटी अवश्य मिलनी चाहिए। अभी के तमाशे और शोरगुल से शीला का सिर इतना भन्ना गया था कि उसने बिना आपत्ति के इस प्रस्ताव को तुरन्त मान लिया। परिणामस्वरूप एक मिट्टी का तसला आ गया, पिंचू के भोजन के लिए।

पर यह स्नेह व्यवहार पिंचू को सभ्य बनाने में सफल न हो सका। वह दिन-पर-दिन उद्धत और जंगली बनता जा रहा था। एक दिन न-जाने वह कहाँ से क्या खाकर आया कि उसके गले में कुछ अटक गया। वह बुरी तरह जीभ निकालकर खें....खें....करने लगा और उसके मुँह से राल टपकती गई। बीच-बीच में उसकी आँखें ऊपर चढ़ जाती थीं और वह पूरी शक्ति से छींकता था। ऐसी स्थिति में अलग एक किनारे बैठने के बदले वह लीला की चारपाई पर लेट गया।

वह खीझकर रुआँसी हो गई। तत्काल उसने पिंचू को जबर्दस्ती चारपाई से उठवाया और लाइसोल के पानी से दरी धुलवाई।

पिंचू के लिए अब पुरानी गुदड़ी और टाट का बिस्तरा बन गया, इस आशा से कि भविष्य में वह उसी पर लेटेगा। पिंचू के ठाट थे, उसका एक अधिकार और बढ़ गया।

शीला की कठिनाइयों का अंत होता नहीं दीख रहा था। पिंचू क्या आया शनिश्चर की महादशा लग गई। शीला की सखी-सहेलियाँ उससे मिलने आतीं और पिंचू बिना मान-मर्यादा की चिन्ता किए उनके बीच बैठ जाता। बीच-बीच में अपनी पूँछ इतने वेग से हिलाता कि उसके बदन की धूल और बदबू उड़कर सबकी नाक में भर जाती। वे सकपका जातीं और रुमाल या धोती के पल्ले से मुँह बंद कर लेतीं।

संकोच से शीला का सिर यह सोचकर नीचा हो जाता कि ये लोग सोचते होंगे कि कुत्ते को पालकर मैंने उसकी दुर्दशा कर रखी है। अब इन्हें बैठकर कौन बताए कि यह पालतू है या निर्लज्ज अभ्यागत। हारकर उसने अपनी भंगिन से कहा कि वह पिंचू को नित्य स्नान करा दिया करे और उसके दो रुपए महीना बढ़ा दिए गए।

पिंचू ने बिना बुलाए मेहमान की भाँति सारे घर में आधिपत्य जमा लिया था। और वह पिंचू के ऐसे अधिकारों का हृदय से स्वागत करने में दिन पर दिन अपने को असमर्थ पा रही थी। एक ओर उन दोनों के जीवन की बाहरी दूरी कम होती जा रही थी और दूसरी ओर मन की खाई बढ़ती जा रही थी।

मंगल का दिन था। पौ फटने के साथ ही उसने स्नान किया, फूल तोड़े और पहिले दिन से मँगाए हुए लड्डुओं के दोने को हाथ में लेकर मंदिर में जाने के लिए वह बरसाती की सीढ़ियों से रिक्शा में चढ़ने के लिए उतरी ही थी कि वज्रपात !

रात-भर का बिछुड़ा पिंचू भला उसे बिना अपना स्नेह स्पर्श कराए कैसे कहीं जाने देता। वह दुम हिलाता हुआ दौड़ता आया, और नौकर को पुकारने तक कि वह पिंचू को पकड़ ले, पिंचू ने भूखे बाघ की तरह उसके हाथ-पैर चाटने प्रारम्भ कर दिए।

क्रोध और घृणा से वह काँप गई। न जाने क्या-क्या खाकर आया होगा और उसी मुँह से चाटकर इसने मुझे दूषित कर दिया है। अब फिर से नहाना होगा। उसे याद आया कुत्ते को प्यार करने के कारण

ही तो युधिष्ठिर को नरक जाना पड़ा था।

नहाते समय वह बहुत खिन्न थी। भगवान्, तुम कैसे न्यायशील हो? यह दुष्ट मुझे इतना दिक करता है! तुम्हारी पूजा तक चैन से नहीं करने देता! वह मनाने लगी, हे मोदकप्रिय हनुमानजी, किसी तरह इस कलमुँहे से मेरा पिण्ड छुड़ा दो तो अगले मंगलवार को पाँच पैसे चढ़ाऊँगी। चाहे उसे म्युनिसपैल्टी की गाड़ी ले जाए, चाहे वह मर जाए, मेरी आँखों से उसे दूर कर दो।

सुस्थिर होकर वह सीढ़ियों से उतरी और रिक्शा में एक पैर रखा ही था कि फिसल गई और गोल चक्कर खाकर पैर के बल गिर पड़ी। पिंचू ने दूर से यह देखा तो बेतहाशा भागता हुआ पास आया। सहमकर दुखित भाव से उसका मुँह सूँघ कर एकटक उसकी ओर देखने लगा।

शीला के पैर में मोच आ गई थी। उसका यह अभिशाप पिंचू के लिए वरदान बनकर आया। दैवी विधान भी विचित्र है! उसका प्रत्येक कर्म अच्छाई और बुराई दोनों को समेटे आता है। मोच आ जाने के कारण शीला को मंदिर जाने के बदले चारपाई की शरण लेनी पड़ी। पिंचू दुम दबाकर चारपाई के नीचे लेट गया। थोड़ी-थोड़ी देर में वह बाहर निकलता, चुपचाप उसका मुँह देखता और स्नेह से दुम हिलाता। उसने अनायास पिंचू की ओर देखा और उनकी सजल आँखें चार हो गईं।

पिंचू के स्नेह का आज उसे प्रथम बार परिचय मिला था। प्यार से उसकी पीठ सहलाते हुए उसने उसे पुचकारा और धीमे से कहा—"दुष्ट, साल-भर से मुझे तंग कर रहा है। चल आज से तू मेरा हुआ।" उसके मुँह पर शांत मुस्कराहट आ गई—"तेरे मनुष्य दुर्लभ प्रेम के कारण ही हनुमान जी ने आज मेरी नहीं सुनी।"

पिंचू ने कितना समझा और कितना न समझा यह कहना कठिन है। पर इतना सत्य है कि वह सिर हिलाकर हलके से भूँका और उसने तत्काल अपने आगे के पैर उसके कँधे पर रखकर उसका मुँह चाट लिया।

कालचक्र

अभी पिछले ही साल की तो बात है। सरकार के बारंबार आश्वासन देने पर भी गल्ले का दाम दिनों-दिन बढ़ता जा रहा था और घर में खानेवालों के मुँह ?—उनकी गणना न करें तो ही अच्छा। उस पर 'विधना की मार' ने गरीबी में आटा गीला कर दिया—जेठ की आकस्मिक मृत्यु ने रहा-सहा ढाढ़स तोड़ दिया। मानसिक व्यथा के साथ ही पारिवारिक आर्थिक संतुलन डगमगा उठा।

दायित्व के भार से झुके हुए कन्धे ही जानते हैं कि बड़े परिवार में रहना क्या होता है। अपने बच्चे, अम्माजी, दो ननदें, जेठानी, भतीजे और भतीजियाँ—घर में दो जून का खाना निबटाना कठिन हो गया था।

एक ओर आर्थिक चिन्ता अपना मुँह साँपों की माता सुरसा की भाँति अधिकाधिक फाड़ती जा रही थी और दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त परिवार की सीमाएँ मुक्ति की साँस लेने के मार्ग को अवरुद्ध किए हुए थीं। लगता था भली-भाँति सबका गला घोंट कर ही कुल की परम्परागत मर्यादा अपनी सत्ता पर आरूढ़ रह सकेगी।

स्थिति के असह्य होने पर, एक दिन, न-जाने कैसे मैंने अम्माजी के सामने मुँह खोलने का साहस बटोर ही लिया। वर्तमान सामाजिक और आर्थिक स्थिति से उन्हें अवगत कराते हुए एक लम्बी भूमिका बाँधकर मैंने दबे स्वर में कहा—"मेरे साथ की लगभग सभी पढ़ी-लिखी लड़कियाँ नौकरी कर रहीं हैं—यदि मुझे भी कोई नौकरी मिल जाती तो अच्छा होता।"

अम्मा पीली पड़ गईं, जैसे दम घुट रहा हो। धीमे-धीमे साँस लेकर कठिनता से शब्दों को निकालते हुए बोलीं—"बहू, कैसी बात करती

हो ? उन लड़कियों को भूल जाओ जो नौकरी करती हैं—ऐसों का न कुल होता है और न मर्यादा। जानती हो, हमारे परिवार की कितनी प्रतिष्ठा है! लोग सोचते हैं रामू के दादा जी सात लाख रुपया छोड़ गए हैं—तभी तो हमारे परिवार की बहू-बेटी पर कोई अँगुली नहीं उठा सकता।"

फिर मुझे पुचकारते हुए बोलीं—"तुम्हीं लोगों के हाथों अब हमारे कुल की लाज है। कुल के गौरव की सुरक्षा के लिए पानी पीकर दिन काटने पड़ें तो कोई बात नहीं। घर के अन्दर चाहे टाट लपेटना पड़े या एक जून रोटी-नमक खाकर रहना पड़े पर बाहर हीरे की लौंग पहनकर ही निकलना चाहिए।"

अम्मा जी के ऐसे कठोर उपदेश को सुनकर मैं सन्न रह गई। आगे कुछ बोलने का साहस नहीं हुआ और चुपचाप काम में लग गई।

कुछ महीने ऐसे ही बीत गए। घर के अन्दर रूखा-सूखा खाना, बर्तन मलना, झाड़ू देना—यह सब कुल की मर्यादा के गौरव में चार चाँद लगा रहे थे। अम्मा रह-रहकर कहतीं—"मेरे घर की बहू-बेटियाँ सब-कुछ सह लेंगी पर मुँह उघाड़कर निर्लज्जों की भाँति नौकरी नहीं कर सकतीं।"

किन्तु मर्यादा केवल घरेलू काम और रोटी तक सीमित नहीं रह सकी। जवान लड़कियों का ब्याह एक ऐसा प्रत्यक्ष सत्य था जिसके आगे अम्मा को भी सिर झुकाना पड़ा और अन्त में कहना पड़ा—"बहू, जैसा तेरा जी है वैसा कर ले—लड़कियों के हाथ तो पीले करने ही होंगे।"

परिस्थिति की विवशता ने अम्मा से जो कहलवाया, सच पूछिए तो, उससे मेरी परेशानी अधिक बढ़ गई। नौकरी करने की अनुमति मुझे मिल गई और मैं कर भी सकती हूँ, पर नौकरी मिलेगी कहाँ और कैसे? इस द्विविधा ने मुझे खा लिया। अभी तक दिन चिन्ता में कटता था और अब रात भी चिन्ता में कटने लगी।

जब कुछ समझ में नहीं आया तो मैंने सबके सामने अपना दुखड़ा रोना प्रारंभ कर दिया। जो आता उसे ही सुनाती—इस बात की चिन्ता

न करती कि वह सुनना चाहता है या नहीं। किन्तु सुननेवाले भी 'पाँचों अँगुली घी में' वाले न होते। वे उलटा अपनी गाथा गाने लगते और निष्कर्ष यह निकलता—मँहगाई सबके लिए है और नौकरी सब चाहते हैं।

तीन-चार महीने की दौड़-धूप और न-जाने कितने अपमान और विष की घूँट पीने के बाद बड़ी कठिनाई से मुझे नौकरी मिली और वह भी आकाशवाणी में। आकाशवाणी की नौकरी अथवा भाग्य के वैचित्र्य ने एक समस्या हल करते ही दूसरी उत्पन्न कर दी, और मैं पुनः चिन्ता में पड़ गई।

औफिस में पहिले दिन प्रवेश करते ही पता चला कि आकाश-वाणी कालचक्र की भ्रूभंगिमा पर चलती है। उसका जीवन गतिशील है और गति को नियमित करने वाला कालचक्र है। अतः यदि आकाश-वाणी के सेवकों के पास समय का वाहन, कालचक्र न हो तो वह घड़ी, घंटे और मिनटों का हिसाब रखने में असमर्थ है। आकाशवाणी और कालचक्र अथवा देह और आत्मा के इस सम्बन्ध को सुनकर मेरे माथे पर पसीना आ गया।

घर लौटते समय सिर भारी था। निरन्तर एक ही समस्या मन में घूम रही थी कि आकाशवाणी के सेवक के लिए समय संकेतिका से एक क्षण का भी विछोह घातक है। अब मैं क्या करूँ? क्या वह जिसके पैरों में फटी चप्पल और बदन पर सादी धोती है घड़ी खरीद सकती है?

सात बजे शाम जब घर पहुँची तो 'वे' व्यग्रतापूर्वक मेरी बाट जोह रहे थे। संभव है, सोच रहे होंगे कि नौकरी मिलने की खुशी में झउवा-भर मिठाई लेकर आऊँगी—मिठाई के शौकीन वह इतने अधिक हैं कि नाम से ही मुँह में पानी आ जाता है। पर, मेरा मुँह लटका हुआ देख-कर वे चौंक उठे—"क्यों, क्या हुआ? जब तक अम्माँ ने हामी नहीं भरी थी तब तक तो तुमने ऐसा कोहराम मचा रखा था कि मानो आस-

मान से तारे तोड़कर लाओगी। अब एक ही दिन में सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया? कहा था न—नौकरी करना स्त्रियों के वश की बात नहीं, बात-बात पर अपमान और परेशानियाँ सहनी पड़ती हैं और तुम लोग तो तनिक-सी बात में आँसू निकालने की आदी हो।"

जब मैंने अपनी चिन्ता का कारण बतलाया तो वे हँस दिए और बोले—"अरे भई, मैं किस लिए हूँ, तुम्हारा खिदमतगार? अभी एक जादू दिखाता हूँ।" और वे साइकिल लेकर अन्तर्धान हो गए।

लौटे तो हाथ में एक आने का मिट्टी का गुल्लक था। मैं रुआँसी हो गई—यहाँ नौकरी पर आ रही है और इन्हें खेल सूझ रहा है! बोली—"रहने दीजिए, यह बच्चों की-सी हरकतें हमेशा अच्छी नहीं लगतीं।"

उन्होंने समझाया—"दो महीने के लिए मैं तुम्हें अपनी घड़ी देता हूँ और तुम तब तक इसमें कुछ-न-कुछ पैसे रोज डाल दिया करो, चाहे भाजी के लिए बचें या न बचें। घर में कोई कुछ नहीं कहेगा क्योंकि सभी जानते हैं कि तंगी है और महीना-भर बाद ही तुम्हें वेतन मिलेगा।"

बात पते की लगी और मैं गद्गद हो उठी—बिना समझे इन पर झल्लाती रहती हूँ, कितनी बुरी बात है। आखिर, अवसर पर सहायता तो यही करते हैं। कुछ भी हो, आदमी स्त्री से अधिक बुद्धिमान है।

मैंने वह गुल्लक अपने बक्स में छिपा लिया और उसमें चुपचाप पैसे डालने लगी। पतिदेव की अनुमति थी, फिर किसका संकोच? जब वह पर्याप्त भारी लगने लगा तो मैंने उनसे कहा—"अब बाजार चलकर घड़ी खरीदवा दो।"

वे अड़ गए—"तुम्हारी नौकरी के कारण यह बचत हुई है और तुम्हारी कमाई पर पहिला अधिकार मेरा है। मैंने ही अम्मा को उल्टा-सीधा पढ़ाकर अनुमति दिलवाई थी। अब पहिली बचत से मेरा सूट सिलना चाहिए और दूसरी से घड़ी।"

मैं भौंचक रह गई। इनके परिवार की सुख-सुविधा के लिए मैं

दिन-रात अपना खून-पसीना कर रही हूँ और इन्हें मेरा तनिक-सा भी ख्याल नहीं। मर्दानी घड़ी पहिनने में मैं जितना संकोच और लज्जा का अनुभव करती हूँ, मैं ही जानती हूँ। लगता है जैसे सब ऑफिस वाले मेरे ही हाथ को घूर रहे हैं! पतिदेव में बचपन है, यह मैं जानती हूँ, पर चालाक और स्वार्थी उन्हें नहीं समझा था। तो गोलक अपने लिए लाए थे और किस सफाई से मेरे ऊपर आभार रखा गया। यही है विवाहित जीवन? पुरुष कितने निर्लज्ज होते हैं? अन्दर-ही-अन्दर मैं अपने आँसू पीने लगी और निश्चय कर लिया कि घर के लिए अपने का मिटा दूँगी—जहाँ निःस्वार्थ प्रेम नहीं वहाँ जीवन का क्या मोह? अकृत्रिम मुस्कान के साथ मैंने कहा "चलिए, सूट बनवा लीजिए। रुपयों को तो पार लगाना ही है।"

रिक्शा रुकवा कर जब उन्होंने उतरने के लिए कहा तो मैंने चौंक कर देखा कि रिक्शा घड़ी की दूकान के पास खड़ा है। मैंने उनका कोट पकड़ लिया—"मैं इस दुकान में नहीं जाऊँगी और न आपको जाने दूँगी। भगवान् की सौगंध, यदि मैंने कभी घड़ी खरीदी! नौकरी चली जाय, मुझे इसकी चिन्ता नहीं।"

उन्होंने मानो कुछ सुना ही नहीं। रिक्शावाले को पैसा देकर दुकान में घुस गए। मेरा पारा पर्याप्त चढ़ चुका था पर बीच सड़क का ख्याल कर मैं चुपचाप दुकान में चली गई। सोच लिया—सब घड़ियों में कोई न-कोई खोट निकाल दूँगी।

दुकान पर पहुँचने पर मालूम हुआ कि वे एक सप्ताह पहिले ही ७५) रुपए की एक घड़ी रिजर्व करवा चुके हैं। मैं खिसिया गई—इनके स्वभाव को अभी तक नहीं पहचान पाई! कितनी तुच्छ हूँ। ध्यान आया, अपने लिए एक रूमाल तक तो यह खरीदने नहीं देते और आज मैंने कैसे....सोचा, शाम को अवश्य ही इनकी रुचि की तरकारी स्वयं बनाऊँगी और लौटते समय मिठाई ले चलूँगी।

किन्तु मैं पचहत्तर रुपए की घड़ी लेने के लिए तैयार न थी। घर

में तो साग-भाजी दुर्लभ है और मैं इतनी मँहगी घड़ी पहनूँ ! फिर इन बेचारों ने कभी कुछ नहीं लिया है। यदि घड़ी थोड़ी सस्ती ले लूँ तो इनकी एक अच्छी बुश-शर्ट बन जाएगी—यह भी कितने खुश होंगे। आज दिन से ही इन्हें झिड़कने में हूँ।

दुकानदार और वह अपनी ही धुन में थे। पचहत्तर रुपए से कम की घड़ी लेने से अच्छा दो आने वाली बच्चों की घड़ी ले लेना है। इससे मामूली घड़ी दो महीने भी नहीं चलेगी। पसीने की कमाई पर पानी फिर जायगा, ऊपर से दुःख अलग से। साथ ही दुकानदार का कहना था— "लेडीज़ के हाथ में मामूली घड़ी अच्छी नहीं लगती। उनकी प्रतिष्ठा का ध्यान रखना पड़ता है।" लाचार इनकी पसन्द की हुई घड़ी ले ली।

घर लौटी तो बड़ी आशा से गोलक तोड़ा। वे बारम्बार कहते जा रहे थे कि रुपए सौ से ऊपर होंगे। "देखो न, कितना भारी लग रहा है।" मैं खुश थी—"अच्छा ही है।" मैंने कहा—"लेकिन अभी से बताए देती हूँ कि इन रुपयों को मैं घर में खर्च नहीं करूँगी। वे मेरे हैं। जो जी चाहेगा लूँगी।" उस समय मेरे मानस में बुश-शर्ट घूम रही थी।

गोलक टूटा तो उनका कहना पचास प्रतिशत ठीक निकला। खैर, दुकानदार ने बड़ी आत्मीयता दिखाई। कहा—"बाकी रुपया सुविधा से दे दीजिएगा। घर की ही बात है—मुझे कोई जल्दी नहीं है।" पर उसने पता सविस्तार लिख लिया था। उस रात को मैं घड़ी लगाकर ही सोई।

दो महीने बीत गए। शनिवार का दिन था। ऑफिस, संभव है, १०-१५ मिनट देर से पहुँची। यह संकेत करने के लिए मेरे 'बॉस' ने मेरे पहुँचते ही अपनी घड़ी की ओर दृष्टि डाली। यह देखकर मैंने भी अकस्मात् अपनी घड़ी की ओर देखा और वह चुप थी। सोचा, रात को चाभी देना भूल गई हूँगी। फूकने पर देखा तो बात कुछ और थी। घड़ी बंद हो गई थी।

शाम को घर आने पर उन्हें बताया। तत्काल बोले—"कहा था न कि सूट बनवाने दो। तब मानी नहीं। अब मैं क्या करूँ?—और खरीदो घड़ी।" फिर नुक्ताचीनी करते हुए बोले—"समय पर चाभी नहीं देती होगी। इधर-उधर डाल दी होगी—बरसात के दिन हैं—खराब होने में क्या देर लगती है। घड़ी का शौक है तो रखने की तमीज भी सीखो।"

जब मैं काफी खीझ उठी तो उन्होंने समझाया कि चिन्ता की कोई बात नहीं है। साल-भर की गारंटी है—दुकानदार ठीक कर देगा। वे हँस दिए—"भई, जितना खराब करना है साल-भर के अंदर कर लो—फिर मरम्मत के लिए दाम जुटाने मुश्किल हो जाएँगे। वैसे, खराब हो ही गई हो तो बेच दो—मेरा सूट सिल जाएगा।"

उन्होंने बड़ी लड़की को आवाज देते हुए कहा कि मुन्नी अम्मा के लिए चाय बना दे और मुझसे बोले—"थकी होगी, जल्दी से चाय पी लो तो तुम्हारी घड़ी ठीक करवा लाएँ।"

हम तैयार होकर बाहर निकले ही थे कि एक ताँगा आता दीखा और उसमें निकले इनके सहपाठी तथा अनन्य मित्र गणेशी बाबू—उल्लास के वातावरण में घड़ी भूल गई। इधर-उधर की बातों में न-जाने कब रात बीत गई। दूसरा दिन आया और ऑफिस का समय हो गया।

मुझे ऑफिस के लिए तैयार देख गणेशीजी ने चुटकी ली—"भाभी जी, घुड़सवारी का शौक अभी नया ही दीखता है। यहाँ इतवार की याद के सहारे सप्ताह के छह दिन काटते हैं और आप....।"

"जी, शौक ही के मारे तो नौकरी कर रही हूँ। घर में निठल्ली रहती थी—सोचा नौकरी के बहाने ही अपने को भूली रहूँगी—" मेरा उत्तर था।

"तो चलिए आज मेटनी देख लें।" गणेशी जी खुश होकर बोले।

"वह आपको मुबारक हो। यहाँ तो आकाशवाणी की नौकरी करते हैं—समय उसका वाहन है। अतः न उसके जीवन-क्रम में विश्राम, न हमारे।" मैंने पतिदेव से कहा—"आपकी तो आज छुट्टी है। अपनी

घड़ी मुझे दे दीजिए।"

गणेशी जी परिहास के स्वर में बोले—"क्यों भाभी जी आपके पास घड़ी नहीं क्या ?"

"है क्यों नहीं। इनकी तो न-जाने कितने साल पुरानी है। मेरी तो बिलकुल नई है। अभी दो महिने हुए ली थी।" मेरा सगर्व उत्तर था।

"देखूँ ?" उन्होंने अविश्वास से कहा।

मैंने ड्रावर से घड़ी निकालकर उन्हें पकड़ाते हुए कहा—"ज़रा खराब हो गई है। कल घड़ीसाज को दूँगी. ठीक कर देगा।"

उन्हें उसकी बनावट अच्छी लगी। सलाह देते हुए बोले—"ऐसे-वैसे घड़ीसाज से ठीक मत करवाइएगा—पुर्जे बदल देते हैं। इधर आयात भी बन्द है।"

मैंने कहा—"उसी दुकानदार से ठीक करवाऊँगी जिससे ली है। वह निःशुल्क ठीक करेगा।"

वह हँस दिए—"अच्छा, तो भाभी जी आप भी पैसों के चक्कर में पड़ गई हैं। लाइए, मुझे दीजिए। मैं निःशुल्क ठीक करा दूँगा।"

"नहीं आपसे निःशुल्क कराना मुझे नहीं भाएगा। भला आपके पैसे क्यों खर्च कराऊँ ? दुकानदार की बात दूसरी है—साल-भर की गारन्टी दी है।" मेरा उत्तर था।

उन्होंने घड़ी की ओर एकटक देखते हुए कहा—"घड़ी सुन्दर है। मैं नहीं चाहता किसी बेवकूफ को आप दे दें। घड़ी बेचने वाला घड़ी बनाने वाला भी हो, वह आवश्यक नहीं है। मेरा मित्र कुशल घड़ीसाज है। वह बना देगा—उसे बनाई भी नहीं देनी पड़ेगी। घड़ीसाज हफ्तों ठीक करने में लगा देते हैं। मैं उसकी गरदन पर सवार होकर एक ही दिन में ठीक करवा दूँगा।" कुछ गिनती करते हुए बोले—"आज क्या दिन है, इतवार! कल मैं दिल्ली पहुँच जाऊँगा। बस देर-से-देर बृहस्पति-शुक्रवार तक आपको घड़ी मिल जाएगी।" फिर मुँह बिचकाकर बोले—"न मिली तो देवर ही हूँ, कान पकड़ लीजिएगा।"

मुझे संकोच हो रहा था कि दूसरे को कष्ट देना कहाँ तक उचित है और साथ ही लालच था कि गणेशी जी को देने से घड़ी की पक्की मरम्मत हो जायेगी। इस द्विविधा में पड़कर मैंने उनकी ओर देखा। वे मेरे अनिश्चय को भाँपते हुए बोले—"ठीक तो है, गणेशी तुम्हारी सेवा करने को तैयार है, तुम्हें व्यर्थ का संकोच हो रहा है।" गणेशी जी की ओर मुँह करके बोले—"तो भाई, तुम घड़ी रख लो। मेरा झंझट कटा।"

· गणेशी जी ने तत्काल घड़ी अपने सूटकेस में सँभाल ली। शाम की गाड़ी से वे चले गए।

सप्ताह बीतते-बीतते मैंने एन्श्योर्ड पार्सल की प्रतीक्षा करनी प्रारंभ कर दी। समय बरसाती नदी के पानी की तरह बह गया, मैं घड़ी पाने के लिए व्याकुल हो उठी।

लगभग १५-२० दिन बीत जाने पर गणेशी जी की चिट्ठी आई। वे लिफाफे पर लिखावट पहचानते हुए बोले—"क्या पढ़ूँ? ऐसे ही बता सकता हूँ कि क्या होगा। पार्सल रवाना किए की सूचना होगी। पार्सल तो देर से पहुँचता है—परसों तक घड़ी आ जावेगी। लो, घर बैठे ही काम हो गया। अब तुम रसगुल्लों का प्रबंध कर रखना।" और वे चिट्ठी पढ़ना भूलकर गणेशी जी की प्रशंसा के पुल बाँधने लगे। "कितना सरल स्वभाव है! बचपन से वह सदैव ऐसा ही रहा—किसी काम के लिए नहीं कहना तो उसने सीखा ही नहीं है।"

प्रशंसा कर चुकने पर उन्होंने घर में शोर मचाना शुरू किया। बच्चों को सिखा दिया कि परसों अम्मा से रसगुल्ले अवश्य लेना।

मैं हँस रही थी—बिना चीज आए ही इतना कोहराम मच गया है। आने पर न जाने क्या हाल होंगे।

चिट्ठी पढ़कर मैं निश्चित रूप से जानना चाह रही थी कि घड़ी कब मिलेगी। अतः उनके हाथ से मैंने चिट्ठी ले ली। काफी लम्बी चिट्ठी थी—यात्रा की परेशानियाँ, बीवी और बच्चों के बारे में सविस्तार

लिख रखा था पर....। मैंने खिन्न मनसे चिट्ठी उन्हें लौटाते हुए कहा —"मेरी घड़ी के बारे में तो कुछ नहीं लिखा है।"

उन्होंने एक मिनट न-जाने क्या सोचा और सव्यंग्य हँस दिए— "तुम भी खूब हो ! क्या उसे पागल कुत्ते ने काटा है कि स्टेशन से घर जाने के बदले सीधे घड़ीसाज के वहाँ जाता। तुम तो मियाँ-बीबी में लड़ाई करवाना चाहती हो। देखो, कितनी प्यारी चिट्ठी लिखी है। बेचारा दिनों बाद अपने बीवी-बच्चों से मिला है।"

मैं झुँझला उठी—इन्हें सदैव मेरी बातें उल्टी लगती हैं। तीव्र स्वर में बोली—"कौन कहता है कि वे मेरे कारण बीवी से लड़ें। मैं तो उन्हीं की बात कह रही हूँ—उन्हीं ने तो कहा था कि एक सप्ताह के अन्दर ठीक कराकर भेज दूँगा और आज तीन सप्ताह हो गए हैं। मैंने पूछ ही लिया तो आपके मित्र की क्या मानहानि हो गई ?"

"ठीक है। काम भी लो, अहसान भी धरो। कितना व्यस्त जीवन है उसका। उस पर स्वयं माँग कर घड़ी ले गया और एक तुम हो, जल्दी की रट लगाए हुए हो। मान गया, स्त्रियों में बुद्धि नहीं होती। एक बार जो बात मस्तिष्क में घुस गई बस घुस गई।"

इस भाषण ने १०-१५ दिनों तक धैर्य बँधाए रखा। महीना बीतने तक मैं पुनः व्यग्र हो उठी और एक दिन बिना उन्हें बताए ही —संभवतः प्रथम बार—गणेशी जी को घड़ी का स्मरण दिलाने के लिए एक पत्र डाल ही दिया। इसी ऊहापोह में डेढ़ महीना और बीत गया पर उत्तर नदारद ! लाचार भाभी होने के नाते एक उपालम्भपूर्ण पत्र और डाला—उपदेश भी दिया। ऐसी असावधानी घर में भी करते होंगे, बुरी बात है। बीवी की शामत आती होगी। किन्तु कालचक्र ! उपालम्भ और उपदेश सब हवा हो गए।

तीन-चार माह बीत गए और 'जो गया सो गया, पछताके क्या लाभ !' सोचकर, मैंने घड़ी को भरसक भुलाने के प्रयास में गणेशी जी का नाम लेना भी छोड़ दिया।

अपनी अच्छाइयों-बुराइयों समेत मैं इस सिद्धांत पर अटल रहना चाहती थी कि न दूसरों को लूटो और न अपने को लुटने दो—दोनों ही मुझे समान रूप से असह्य थे। पर अब रह-रहकर यह बात मन को कचोटती कि जीवन में बेवकूफ न बनने का व्रत लेने पर भी मैं बेवकूफ बन गई।

इसी बीच श्रीमान्‌जी समाचार लाए कि लाला मुल्कराज की लड़की की शादी है। बरातियों के साथ गणेशी जी आने वाले हैं और साथ ही उन्होंने अपनी दूरदर्शिता व्यक्त करते हुए कहा—"गणेशी अपने ही साथ घड़ी लाएगा। अब मैं समझा गणेशी की चुप्पी का कारण; सोचा होगा उत्तर देना व्यर्थ है—शादी में तो जाऊँगा ही।" और वे मंद मुस्करा दिए।

जब हमलोग शादी में जाने की तैयारी करने लगे तो मैंने उनसे कहा—"देखिए आपने ही घड़ी दिलवाई थी। अब आप ही उसका उद्धार कीजिए।"

"मैंने दिलवाई?" वे चौंकते हुए बोले—"तुम स्त्रियों को अपना दोष दूसरों पर मढ़ना खूब आता है! तुम्हीं तो मेरी ओर देखने लगीं। मैं क्या करता? कहना ही पड़ा दे दो। सच बात यह है कि तुमने दी और तुम्हीं वापस माँगो। मुझसे न तो कहा जाएगा और न मेरा कहना उचित ही है।"

रिक्शा में बैठते-बैठते उन्होंने पुनः मुझसे कहा—"घड़ी ठीक करा कर गणेशी अवश्य लाया होगा, पर वह बातूनी बहुत है। बातचीत के ढंग मे अथवा शादी के हो-हुल्लड़ मे वह घड़ी देना भूल सकता है। तुम उसे याद दिला लेना। अन्यथा बाद में मुझसे लड़ोगी।"

मैं अपने स्वप्न को भविष्य में साकार बनते देख रही थी। अतएव सुस्थिर मन से कहा—"हाँ, हाँ मैं आपकी तरह थोड़ी हूँ। अपनी वस्तु माँगने में क्या संकोच! फिर मेरे लिए वह घड़ी बहुमूल्य है, उनके लिए नहीं। कितने अमीर हैं। कुर्त्ते में हीरे के बटन लगाते हैं और

बाँह में नवरत्न का कंगन पहनने हैं।"

शादी की भीड़ में गणेशी जी न-जाने कहाँ थे और उस हुल्लड़ में घड़ी के कारण उनकी खोज करवा कर बात का बतंगड़ करना मुझे उचित नहीं लगा। उस पर दूसरे दिन भेंट होने की आशा थी।

घर लौटते समय जब मैं उनकी प्रतीक्षा कर रहा था तो देखा कि वे और गणेशी जी एक दूसरे के गले में हाथ डाले, झूमते तथा उन्मुक्त हँसी-हँसते हुए चले आ रहे हैं।

अपनी आशा को फलवती होते देख मैंने उन लोगों की ओर देखा और मुस्करा दी। साथ ही ध्यान आया कि गणेशी जी से एक-दो दिन और रुकने के लिए आग्रह करना चाहिए। मैं कुछ बोलनी-न-बोलती कि गणेशी जी ने कहना प्रारंभ किया—"भाभी जी, घड़ी के बारे में बताना तो भूल ही गया। आप भी क्या सोचती होंगी। क्या करूँ बहुत भुलक्कड़ हूँ। मेरी इस आदत ने मेरी नवनीत-सी बीबी को अनेक बार रुष्ट कर दिया।"

मैंने उनकी ग्लानि को दूर करने के अभिप्राय से कहा—"मैं चंद्रा थोड़ी हूँ जो तनिक से मैं रूठ जाऊँ। आप अपने साथ घड़ी लाना भूल गए, कोई बात नहीं। अब पार्सल से भेज दीजिएगा।"

गणेशी जी ने मानो मेरा कहना सुना ही नहीं। वह अपनी धुन में कहते गए—"आपको याद होगा जब सामान रिक्शा में रखा जा रहा था तब आपने घड़ी दी थी। न-जाने उस समय जल्दी में मैंने कहाँ रख दी, या तो उसी रिक्शा में रह गई या फिर गाड़ी में छूट गई।" वह एक झेंपी हुई-सी हँसी हँसकर बोले—"अपनी इस आदत के कारण न-जाने मुझे कितना घाटा उठाना पड़ा है। मैंने आपके लिए बहुत मूल्यवान् घड़ी ली थी पर भाई साहब की नाराज़ी के डर से मुझे लाने का साहस नहीं हुआ। कहते, छोटा भाई होकर देते लज्जा नहीं लगती। सच मानिए, इसी कारण आते समय उसे भाई-साहब की ओर से श्रीमती जी को भेंट कर आया। वह उसे पाकर

कितनी प्रसन्न हुई कह नहीं सकता। सोचता हूँ, आपका भी कुछ खास नुकसान नहीं हुआ। वह तो सस्ती थी। अब भाई साहब से एक अच्छी घड़ी लिवा लीजिएगा।'

उन्होंने तत्काल जेब में हाथ डाला और एक छोटा-सा पैकेट निकाल कर मुझे देते हुए कहा—"मेरी छोटी लड़की ने अपने हाथ से काढ़कर यह दो रूमाल आपके लिए दिये हैं। मेरी प्यारी बेटी कढ़ाई-बुनाई में बड़ी कुशल है।" और विदा लेकर वे वहीं भीड़ में अदृश्य हो गए।

गणेशी जी की स्पष्टवादिता से मैं अवसन्न हो गई और कुछ न कह पाई। रिक्शा पर मैं उन पर बरस पड़ी—"आपने यदि अपनी सूट बना ली होती तो आज घड़ियाल के मुँह में घड़ी क्यों जाती?" फिर मैंने गुस्से में भर कर गणेशी जी का दिया हुआ पैकेट उन्हें ही पकड़ा दिया—"लीजिए, आपकी लाड़ली भतीजी ने आपके लिए ही भेजा होगा।"

उन्होंने चुपचाप ले लिया और बोले—"दुःखी मत होओ। भाग्य की बात है। गणेशी में सुन्दर वस्तुओं की दुर्बलता अवश्य है पर वैसे है बड़ा सज्जन। चलो, यही सन्तोष है कि घड़ी खोई नहीं, अपने ही भाई के पास है।"

मैं कुढ़ गई—कैसे हैं यह, अपनी ही पत्नी की कठिनाइयों की ओर से विमुख। इनके लिए तो मैं कुछ हूँ ही नहीं। पत्नी के सम्बन्ध में पुरुष कितने निर्मम होते हैं। गणेशी जी से इन्हें एक शब्द तो कहना ही था। उल्टा मुझे ही समझा रहे हैं।

बुझे दिल से मैं घर आई, अम्मा से कहा। वे सान्त्वना देते हुए बोलीं—"पैसा हाथ का मैल है। उसके जाने पर रंज नहीं करना चाहिए। ईश्वर चाहेगा तो उससे भी बढ़िया घड़ी ले लोगी।"

"अम्मा जी, पैसे की बात नहीं है। आज एक ऐसा व्यक्ति मुझे मूर्ख बना गया है जिसके पास सब कुछ है। उस पर आश्चर्य तो यह है कि उस समय मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। यह तो उन्हें बता ही देना था कि आपने पहिले ही दिन जिस गिद्ध दृष्टि से घड़ी

को देखा था उसी से मुझे समझ लेना था। वह सोचते होंगे कि मैं उन्हें बड़ा भोला समझती हूँ—ऐसे ही औरों की शालीनता से लाभ उठाकर उन्हें भी बेवकूफ बनाते होंगे।" मैं मानव-स्वभाव की इस दुर्बलता से खिन्न थी।

अम्मा मेरी वेदना को समझने में असमर्थ थीं; सम्भव है, वही समझ सकता है जो भुक्तभोगी हो। अतः वे कहती गईं—"रहने दे बहू, दुःख न कर। जिसका गया उसका कुछ नहीं बिगड़ता। वह तो लेने वाले का परलोक बिगड़ा। अगले जन्म में वह तेरा गधा बनेगा।"

मैं चुप थी। अम्मा को कैसे समझाती कि अगले जन्म का अभी से क्या सोचूँ। इस जन्म में तो उसने मुझे ही गधा बना दिया।

सोने का समय आया किन्तु मेरे पैर अपने कमरे की ओर नहीं बढ़ रहे थे। दिल बैठा जा रहा था—जो व्यक्ति मेरे सुख-दुःख के प्रति विरक्त है उसको अपना कैसे मान लूँ। पर संयुक्त परिवार की सीमाएँ कम नहीं होतीं। सास, ननदें और जेठानी क्या कहेंगी? और मैंने मुँह फुलाए हुए कमरे में प्रवेश किया।

वह सुन्दर कढ़े हुए रुमालों से मुँह ढककर आरामकुर्सी पर लेटे थे। मेरी आहट पाकर हाथ आगे बढ़ाए और मैं लज्जित हो गई। मेरी घड़ी उनकी कलाई पर बँधी थी।

चोर

समानता ! समानता के पोषकों से मुझे चिढ़ है। समानता के नाम पर न-जाने वे क्या चाहते हैं। निवास, भोजन, वस्त्र एवं धन की समानता और, संभव है, कर्म, गुण और गति की भी। इस दल के कुछ उग्र अनुयायियों ने अब यह कहना प्रारम्भ कर दिया है कि बुद्धि, भावना और साँस की समानता भी अनिवार्य है। समानता का यह सर्वभक्षी रूप हमें किधर ले जाएगा एवं किसको क्या बना देगा, यह सोचकर ही मैं आतंकित हो उठता हूँ। राजा को रंक और रंक को राजा अथवा चोर को कोतवाल और कोतवाल को चोर ! सिद्धांततः क्या सच है और क्या नहीं है, इससे मैं उदासीन हूँ। पर व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर से—जिनकी चपेट में मैं आ चुका हूँ—मैं चुप हो जाऊँ, यह असंभव है।

मकान-मालिकों और सरकार में तो आजकल समानता की होड़ लगी हुई है। दोनों ही निवास की कठिनाई को दूर करने का पुण्य उपार्जन करने में लीन हैं और मकान पर मकान बनवाते जा रहे हैं। विशेषता यह है कि सेठ अमोलकचन्द ने एक ही जगह एक ही साँचे में दर्जनों मकान ढ़ाल दिए हैं तो सरकार ने एक ही-से पचहत्तर मकानों की एक नई बस्ती खड़ी कर दी है।

सेठ अमोलकचन्द के मकानों के ढाँचे में वह जादू है कि एक मकान को दूसरे मकान से पहचानना असंभव नहीं तो बड़े भाग्य की बात अवश्य है। उनके एक घर में मेरे एक मित्र रहते हैं। कई बार वे मुझसे मिलने आ चुके हैं और किस्मत का मारा मैं उस स्थान के चारों ओर भौंरे की तरह कई बार चक्कर लगाकर भी उनके घर को नहीं पहचान सका। एक बार उनका घर अवश्य देखा था, किन्तु तब वे स्वयं साथ थे। इधर

दिनों से उनसे भेंट न हो सकने के कारण मैं स्वयं दुःखी तो हूँ ही, पता चला कि वे भी बहुत क्षुब्ध हैं। हमारे एक परस्पर के मित्र ने बताया कि मेरे उनके यहाँ जा सकने की असमर्थता को वे मनोमालिन्य का चिह्न माने हुए हैं।

अभी हाल में मैं सिविल-लाइन्स गया तो एक दुकान के अन्दर उनकी झलक देखकर मैं लपककर उसमें घुस गया। पर, हाय रे तकदीर! उन्होंने मुझे देखते ही पीठ फेर ली। जेब से दियासलाई निकाल कर सिगरेट पीने लगे मानो मैं शत्रु होऊँ, और उनके मुँह पर एसिड फेंकने के उद्देश्य से आया हूँ। उसी मुद्रा में उन्होंने अपने पंचवर्षीय बालक के कान में कुछ फुसफुसाया। परिणाम यह हुआ कि उनके मुन्नेराम ने सदैव की भाँति मेरे हाथों पर लटक कर 'चाचाजी, नमस्ते' नहीं कहा, वरन् उलटा मुँह फुला लिया। फिर दोनों हाथ कमर पर रखकर मिलिट्री अकड़ से बोला, "बाबा कहते हैं वे आप छे नहीं बोलेंगे, नहीं बोलेंगे!" लगता है दो बार 'नहीं बोलेंगे' कहने पर भी उसके नन्हें-से दिल को सन्तोष नहीं हुआ। अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के लिए उसने अपना छोटा-सा सिर और नन्हीं-सी हथेली दाएँ-बाएँ घुमाते हुए कहा, "आप हमाले घल क्यों नहीं आते? अब हम भी नहीं बोलेंगे!"

बच्चे को गोद में लेकर मैं हँस दिया, "वाह रे शेर, तुम्हारी बहादुरी से तो मैं डर गया। लो, कान पकड़ लिए, अब तो बोलोगे?"

"नहीं, पहिले घल आइए तब बोलेंगे", गोद से उतरने के लिए छटपटाता हुआ वह बोला।

"अच्छा, कल शाम को आऊँगा। क्या दावत करोगे? अम्मा से कहना बढ़िया चाय और मिठाई तैयार रखे। हाँ, जल्दी से बताओ क्या मिठाई खाओगे?"

वह अपना कृत्रिम क्रोध भूलकर स्वाभाविक भोलेपन से बोला, "लड्डू।"

"तो कल पाँच बजे चाय और लड्डू तैयार रखना!"

और मैंने मित्र का कंधा पकड़ कर अपनी ओर घुमाया—"भई, यह सब क्या सुन रहा हूँ ! ऐसा गजब न करना, कहीं का न रहूँगा। कुछ हमारी भी तो सुनो। दो बार तुम्हारे घर आने का असफल प्रयास किया किन्तु घरों के एक-से नाप-नक्शे ने मुझे चक्कर में डाल दिया। यहाँ तक कि उनमें रंग भी एक ही-सा पुता है!"

मेरी बात से मित्र संतुष्ट न हुए। उनके चेहरे की शिकन राई-भर भी दूर न हुई।

मैंने फिर से गिड़गिड़ाते हुए कहा—"तुमने कहा था कि दूसरी गली की तीसरी लाइन में दाहिनावाला घर तुम्हारा है। रिक्शावाले को मैंने अच्छी तरह समझा दिया। फिर भी न-जाने क्या बात हुई कि इधर से उधर चक्कर काटने के पश्चात् खिसिया कर वापिस लौट आना पड़ा। अब मैं दो चक्की के पाटों के बीच हूँ—एक ओर तुम्हारा क्रोध, और दूसरी ओर घर न पहचान सकने का दुःख। इसे अपना दुर्भाग्य ही कहूँगा। हाथ जोड़कर कहता हूँ एक बार फिर से घर की ठीक-ठीक पहचान बतला दो तो कल आने का साहस बटोरूँ !'

मेरी ओर अविश्वासपूर्वक देखते हुए वे बोले—"मैंने समझाया तो था कि सिविल-लाइन्स की ओर से चौथी गली है अन्यथा दूसरी। अब तुम अपने मन से....!"

दूसरे दिन निर्धारित समय पर मैं उस बस्ती में पहुँचा। इस बार घर ढूँढ़ने में कठिनाई नहीं हुई क्योंकि घरों की कतार प्रारम्भ होने से पहिले ही चौराहे पर मित्र खड़े मिल गए। उनको, संभव है, संदेह था कि मैंने उनको चकमा देने के लिए घरों की समानता का बहाना ढूँढ़ निकाला है। वह मन-ही-मन तुले हुए थे कि यदि मैंने अब वही बात दुहराई तो वे मुझे मुर्गा बनाकर ही छोड़ेंगे। वह मुझे अत्यधिक आलसी समझते हैं। आलसी मैं हूँ—पर, मित्र से नाता तोड़ने के मूल्य पर नहीं।

खैर, मुझे देखकर वह बहुत प्रसन्न हुए। उस दिन सिविल लाइन्स का उनका रुद्र रूप आज आनन्दमग्न था। प्रसन्नता के आवेग को

न सँभाल सकने के कारण उन्होंने उत्तेजित होकर अपनी बस्ती के किस्से सुनाने प्रारम्भ कर दिए। बातों के बीच उन्होंने अपने नए आये पड़ोसी की प्रशंसा की झड़ी लगा दी, और आत्मीयतावश मुझे उनके घर चलने को कहा जो उनके रास्ते ही में पड़ता था। पड़ोसी का घर मुझे अपरिचित न लगा। संभव है दोनों के घर की रूप-रेखा की समानता इस भावना के मूल में हो।

लेकिन घर के द्वार के पास पहुँचकर उनके बारे में मेरी पहली धारणा अच्छी नहीं बनी। मन-ही-मन अपने को कोसा—मित्र के स्वभाव को जानते हुए भी कि जब वह किसी की प्रशंसा करने पर आते हैं तो विष्णुसहस्रनाम का पाठ करने लगते हैं—मैं पछताने लगा कि क्यों उनके भुलावे में पड़कर यहाँ आ गया।

दरवाजे के पास पहुँचकर बहुत देर तक किवाड़ खटखटाने पड़े। लगभग चार-पाँच मिनट बाद खिड़की खुलने की आवाज आई और अन्दर से एक मुखाकृति ने सशंकित होकर बाहर झाँका। भीतर कुछ-कुछ अँधेरा था अतः अनुमान लगाना कठिन था कि कौन है। मैं बुरी तरह खीझ उठा कि न-जाने किसका मुँह देखकर सवेरे उठा हूँ कि ऐसा अपमान सहना पड़ रहा है। इतनी देर बाहर खड़ा रखने के बाद अब हमें घूरा जा रहा है जैसे हम चोर-बदमाश हों। जी चाहा कि चीख के कहूँ कि साहब हम चोर-डकैत नहीं, सभ्य आदमी हैं, आपकी मित्रता के आकांक्षी।

इतने में झाँकनेवाली मुखाकृति बोली, 'अहा, आप हैं! दरवाजा खोलता हूँ!'

कमरे की बत्ती जली। फिर दरवाजा खोलने के साथ वही आवाज आई, "क्षमा कीजिएगा। कितनी देर से खड़े हैं? मैं नहा रहा था। बच्चों से मैंने कह रखा है कि बिना समझे-बूझे दरवाजा न खोलें!"

बात के क्रम को बिना तोड़े ही उन्होंने विनम्रतापूर्वक झुककर हाथ से संकेत किया और हम लोग बैठ गए। वे बोलते ही गए—"पत्रों में

आपने देखा होगा, आजकल चारों ओर चोरों का आतंक छाया हुआ है। चोर क्या, ऐसों को तो डकैत कहना चाहिए। इतने साहसी हैं कि दिन-दहाड़े घरों में घुस जाते हैं। अखबार की बात क्यों कहूँ—अभी दस दिन हुए कि उन्होंने मुझ पर कृपा दिखानी चाही थी। शाम का समय था। बच्चे पड़ोस में गए हुए थे। नौकर रसोई में था।"

उँगली से बगल की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा—"वह साथ वाला कमरा आप देखते हैं? उसमें मेरी स्त्री अस्वस्थ होने के कारण सोई हुई थीं। एकाएक उनकी नींद टूटी और उन्हें लगा कि बैठक में कोई है। झाँका तो एक आदमी! वह दंग रह गईं। बताती हैं कि खूब अच्छी सूट पहिने बिल्कुल सभ्य दीखता था। पर साहब, था चोर! अब तो चोर और सभ्य को पहचानना कठिन हो गया है। वह शायद रेडियो चुराने आया था। आजकल रेडियो की बड़ी चोरियाँ हो रही हैं।"

वह व्यंग्यपूर्वक हँसकर बोले—"पर भलामानस ठीक से सायत देखकर नहीं आया था। बीवी की नींद खुल गई और उन्होंने नौकर को पुकारा किन्तु नौकर अपने समय से आया। उसके आने तक चोर ऐसा लापता हुआ कि ढूँढ़ना व्यर्थ हो गया। तभी से अब दरवाजा बन्द रखवाता हूँ। आप तो जानते हैं पहिले दिन-भर खुला रहता था।"

मुझे लग रहा था कि मेरे मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही हैं, पर ऊपरी तौर से विनम्र होकर 'जी हाँ', 'जी हाँ' कहता जा रहा था और उनकी बातें सुनने का ढोंग रच रहा था।

उस घर से बाहर निकले तो मित्र ने गंभीर होकर कहा कि अब वे भी अपने घरवालों को चोरों के बारे में सचेत कर देंगे और मुझे सलाह दी कि मैं भी अपने बीवी-बच्चों को सतर्क कर दूँ। मैं चुप था। समझ में नहीं आ रहा था कि कैसे कहूँ कि तथाकथित चोर मैं ही हूँ।

बात यह हुई कि समानता की भूल-भूलैया में पड़कर मैं उस दिन मित्र का घर समझकर इन सज्जन के घर में घुस गया था। न-जाने किस धुन में था कि बैठक की सजावट पर ध्यान नहीं गया। उल्टा

यह सोचकर आनन्द ले रहा था कि मित्र मुझे देखकर आश्चर्यचकित हो उठेंगे। अतः दबे पाँव बैठक में प्रवेश कर साँस रोककर बैठा रहा। पर जब अपरिचित स्त्री-स्वर सुनाई दिया तो चौंककर मैंने देखा, बैठक की सजावट और फर्नीचर में बड़ा अन्तर था। एकदम घबड़ा कर घर से निकल गया और फाटक पर खड़े रिक्शा पर कूद कर घर आ गया। बाद को ध्यान आया कि यदि अनजाने घर में गया था तो घरवालों से क्षमा माँग लेता। पर, कौन जाने, वे विश्वास करते या नहीं।

डाक्टर भैया

घटना आठ-नौ साल पुरानी है किन्तु समस्या अभी तक बनी हुई है। बात कुछ यों हुई :

हमारी नयी-नयी छोटी-सी बस्ती थी। न पास में कोई अच्छी दुकान थी, न मनोरंजन के साधन। और यदि बीमार पड़ गए तो राम ही मालिक! हमारी अपनी मुसीबत भी कम नहीं थी। अम्मा दिन-पर-दिन रोग से घुलती जा रही थीं। बोलती क्या थीं, कराहती थीं। चारपाई से उठना तो दूर रहा वे अपने आप करवट तक नहीं ले पाती थीं।

इसी बीच सुना काकाभैया विलायत से डाक्टर हो कर आए हैं। बस्ती में शोर मच गया—चलो, दो डाक्टर हो गए। रोग का उपचार कराने में अब कठिनाई नहीं होगी। काकाभैया के घरवालों की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। नौकरों को कठोर चेतावनी दे दी गई कि खबरदार, आज से काकाभैया को जो काकाभैया कहा। डाक्टर साहब हैं वे डाक्टर साहब! कितना पढ़ा-लिखा है उन्होंने! विदेश से 'डाक्टरी' लाए हैं। काकाभैया के छोटे भतीजे को अपने चाचा का नया नाम बड़ा भा गया। वह घूम-घूम कर, ताली बजा कर सबसे कहता—"चाचा नइ, ता-तर-छाब।"

जब बीमार अम्मा ने यह सुना तो खुशी से उनकी आँखों में आँसू आ गए। धोती के छोर से आँसू पोछती हुई बोलीं—"बेटा, तेरा भैया चिरायु रहे। समय-कुसमय मुझे देख देगा। यहाँ के डाक्टर ने तो बड़ा परेशान कर दिया है। न-जाने क्यों इतनी आन है? अपने को भगवान समझने लगा है। सोचता है कि सूई के बल पर रोगियों को मार-जिला सकता हूँ।" अम्मा ने आस्था से आँखें मूँद लीं। "डाक्टर पागल

है। वह नहीं समझता कि जन्म-मृत्यु उसके हाथ का खेल नहीं है !" कहते हुए उन्होंने बाहें ऊपर उठा कर हाथ जोड़ते हुए माथे से लगा लिये। वह पुनः बोलीं—"भगवान् तो अवढ़रदानी हैं। आर्त की रक्षा के लिए दौड़ पड़ते हैं और डाक्टर है कि बीस बार बुलाओ तब कहीं आता है। फिर, कुछ रुककर बोलीं—"उससे कुछ कह भी तो नहीं पाती हूँ बोलता कितने प्यार से है—'माता जी, क्षमा कीजिएगा, आपकी सेवा के लिए पहिले नहीं पहुँच पाया।' कहते-कहते मुँह लटका लेता है। 'क्या बताऊँ बेहद काम है, उस पर मैं इधर बीमार पड़ गया। माता जी, क्रुद्ध न होइएगा। आपकी सेवा में दो दिन की देर हो गई। बस, अब मैं आपको ठीक करके ही चैन लूँगा।" अम्मा ने दीर्घ साँस लेते हुए कहा—"बेटा, बातों से बीमारी थोड़ी अच्छी होती है !"

दूसरे दिन काकाभैया आए। अम्मा का आशीर्वाद लेने के लिए वे झुक ही रहे थे कि उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर अम्मा के पैर जैसे अपने आप ही सिकुड़ गए। उन्होंने प्यार से पीठ थपथपाते हुए काका भैया को पास बिठा लिया—"बस-बस बेटा, 'यह सब क्यों ? तुमने तो हमारे कुल का गौरव बढ़ाया है। अब हम चार के बीच अपनी नाक रख सकते हैं। तू तो अब डाक्टर हो गया है, नाड़ी देखकर बीमारी बता देता होगा ?" काकाभैया का हाथ अपने हाथ में लेकर वह दयनीय भाव से बोलीं—"इस चुड़ैल बीमारी से मेरा पीछा छुड़ा दे। हमारा डाक्टर, क्या नाम है उसका बेटी, जरा बताना तो, बड़ा दिक करता है।" काकाभैया की ओर स्नेहार्द्र नेत्रों से देखते हुए अम्मा सोल्लास बोलीं—"चल, तेरा सहारा हो गया। डाक्टर आने में आनाकानी करेगा तो स्पष्ट कह दूँगी, तुम्हें दवाई देनी है तो दो, नहीं तो हमारा बेटा कौन कम है। क्यों बेटा, तकलीफ होने पर तुझे बुला भेजूँगी, तू आ जाएगा ना ? डाक्टर की तरह न करना, उसे हमारा क्या दर्द-मोह !"

काकाभैया तत्काल बोले—"ताई तुम कैसी बात करती हो ? तुम्हें कष्ट हो और मैं न आऊँ ? पर मैंने किताब लिखी है, किताब।"

अम्मा को मानो निधि मिल गई। वे अपनी प्रसन्नता को सँभालने में असमर्थ हो गईं और अपने रोग को भूल कर एकदम बैठ गईं। आश्चर्य और आह्लादपूर्वक बोलीं—"अच्छा, इतनी योग्यता कमा ली, तूने! सुनती हूँ, बड़े-बड़े वैद्य और हकीम अनेक साल अनुभव प्राप्त करने पर बुढ़ापे में कहीं किताब लिख पाते हैं। भगवान् ने तुझे हमारे घर की ज्योति बनाकर भेजा है, तूने पूर्वजों का नाम उजागर कर दिया।" वे सगर्व बोलीं—"बेटा, तू बहुत बड़ा आदमी हो गया है, नाम कमा लिया है।" अम्मा का रोआँ-रोआँ खिलकर असंख्य आशीर्वाद के फूल बरसाने लगा। वे संतोष से लेट गईं और साग्रह बोलीं—"बेटा, किताब के दर्शन करा देना?"

"हाँ, ताई, तुम देखना चाहोगी तो अवश्य दिखाऊँगा।" काकाभैया का विनीत उत्तर था।

विलायत से आकर काकाभैया मितभाषी और विनम्र हो गए थे। नपे-तुले शब्द बोलने लगे थे। अधिकतर शब्दों की कमी को चेहरे का भाव पूरा कर देता था। अम्मा की स्थिति देखकर उन्हें दुःख हो रहा है, यह उन्होंने अपनी मुखाकृति से प्रकट किया। मेरी ओर आदेश-भरी दृष्टि से देखते हुए गम्भीर किन्तु धीमे स्वर में बोले—"मिनि, तुम्हें ताई की यथेष्ट सेवा करनी चाहिए। मुझे काम बहुत रहता है अन्यथा मैं स्वयं उनकी सेवा-शुश्रूषा करना अपना सौभाग्य समझता। लगता है ताई थक गई हैं। उन्हें विश्राम करने दो। मैं अब जाऊँगा।" अपने कर्तव्य की पूर्ति-सी करते हुए काकाभैया चुपचाप चले गए।

शाम को अचानक अम्मा की दुर्बलता बहुत बढ़ गई। मैंने घबड़ा कर डाक्टर को बुला भेजा। मैं व्यग्रतापूर्वक उनकी बाट जोह रही थी। 'पाँच मिनट में आता हूँ'—कहला कर भी वह तीन घण्टे हो गए हैं, नहीं आए।

इतने में पड़ोस के मुन्नू ने दौड़ते हुए आ कर कहा—"दीदी, डाक्तर छाब का फोन आया है।"

मैं एकदम उछल पड़ी—अंधे को क्या चाहिए, दो आँखें ।

अम्मा के कंधों पर हाथ रख कर, उनके मुँह के पास अपना मुँह ले जा कर मैंने कहा—"अम्मा, अम्मा डाक्टर साहब का फोन आया है। देखें क्या दवाई देने को कहते हैं।" अम्मा के ऊपर मैं हल्के से झुक गई और उनकी देह को आवृत-सा करते हुए मैंने कहा—"बस अम्मा, दस मिनट की बात है। दवाई खाते ही चंगी हो जाओगी।" और फिर मुन्ना को गोद में ले कुर्सी पर बैठाते हुए उसके गाल थपथपाते हुए कहा—"मुन्नू राजा, तू पाँच मिनट अम्मा के पास बैठेगा ना? मैं अभी आई।"

फोन पर मैं चिल्ला पड़ी—"हलो, डाक्टर साहब! अम्मा....।"

काकाभैया का संयत मंद स्वर सुनाई पड़ा—"मैंने सोचा, ताई के बारे में पूछ लूँ। नियम से दवाई दे रही हो?"

मैंने 'हाँ' कहा ही था कि उन्होंने फोन रख दिया। काकाभैया के इस समय के फोन ने मुझे दुविधा में डाल दिया। 'किसकी प्रतीक्षा थी और यह क्या हो गया? यह कैसा भ्रम हुआ? अब अम्मा से क्या कहूँगी? वे आशा में होंगी कि डाक्टर साहब....।' घर लौटते समय मेरा मन भारी था।

'ओह, अम्मा का कष्ट देखा नहीं जा रहा है। समझ में नहीं आता कि क्या करूँ और क्या न करूँ? यदि स्वयं डाक्टर को बुलाने जाऊँ तो न-जाने वे कहाँ मिलेंगे। उस पर उतनी देर अम्मा को अकेली कैसे छोड़ूँ। न-जाने कब क्या हो जाए—' अनेक प्रकार की निराशाओं ने मुझे घेर लिया। अम्मा की उत्तरोत्तर गिरती हुई दशा इस निराशा-रूपी कोहरे को अधिक प्रगाढ़ बना रही थी।

रात हो आई। अंधकार-भरी नीरवता में मेरी चिन्ता के दानव ने मुझे बुरी तरह जकड़ लिया। डाक्टर अभी तक नहीं आया था। असह्य दुर्बलता के कारण अम्मा अर्द्ध-मूर्च्छितावस्था में थीं। असहाय मैं, अनवरत प्रार्थना के साथ मनौतियाँ मनाते हुए एकटक फाटक की ओर देख रही थी। इतने में फाटक खुलने की आहट मिली। मुझे लगा

कि निद्राप्रिय शेषशायी भगवान् सतयुग में चाहे कान में तेल डाल कर सोते हों किन्तु इस युग में सभ्यतावश स्त्री की सहायता के लिए जग ही जाते हैं। श्रद्धा से मैं नतमस्तक हो गई।

फाटक के पास से ही किसी ने पुकारा, 'कोई है, डाक्टर साहब के घर से किताब लाया हूँ।' मेरी आशा फिर से प्रबल हो उठी और मैं फाटक की ओर दौड़ी। सोचा, डाक्टर साहब स्वयं न आ पाए होंगे। अतः दवाई और खाने-पीने के बारे में कोई किताब भेजी होगी।

प्रकाश में आकर पुस्तक का नाम देखा—'शंकराचार्य का अध्यास-वाद।' यह क्या? हाथ काँपने लगे मानो किताब को फेंक देना चाहते हों। हृदय में आघात पहुँचा और मैं अस्फुट स्वर में चीत्कार कर उठी —"हाँ, मिथ्या आरोपण।"

उसी समय मैंने निश्चय किया कि काकाभैया से पूछूँगी—'भैया दूसरे को भ्रांति में रखना कहाँ तक उचित है? क्या रोगों के विशेषज्ञ या चिकित्सक के लिए सर्वस्वीकृत शब्द "डाक्टर" नहीं है? फिर इस उपाधि का तुम्हें यह कैसा लालच कि तुम घर में भी अपने को डाक्टर कहलाना पसन्द करते हो?'

पर मुझे मानना पड़ेगा कि उनका गंभीर व्यक्तित्व देखते ही मेरी जीभ तालू से चिपक गई।

धनलिप्सा

प्रातःकाल की वेला में शहनाई की मंगल अनुगूँज ने बबुआ की आँखें खोल दीं। वह अर्द्ध-जाग्रतावस्था में ही बड़बड़ाया—'लग्नों के मारे आफत है। जहाँ देखो वहाँ शादी! यह शादी वाले कितने निर्मम होते हैं। दूसरे अस्वस्थ हैं, उन्हें काम है अथवा वे सोना चाहते हैं, इनकी बला से।' उसने कानों में अँगुली डाल ली—'न जाने कैसे लोग हैं, दिन-भर ढोल पिटवाते रहते हैं। कान भी नहीं फूटते।' बबुआ झुँझला उठा—'क्या आवश्यकता है शादी करने की। शादी करने से अच्छा स्वर्ण-प्रतिमा की घर में स्थापना कर लें। माँ-बाप और चाहते ही क्या हैं? बेटे के ब्याह के नाम पर घर में खूब जेवर और पैसा आए।' उसे 'बेटे' पर तरस आ गया—'न-जाने कौन विपत्ति का मारा आज बलि-पशु बना है। उसके कारण मेरा सोना दूभर हो गया है। पीं-पीं टीं-टीं के मारे कान फूटे जा रहे हैं। ऐसा मालूम होता तो मित्र के यहाँ कुछ दिन और रह लेता।' फिर अपने को ही समझा कर वह बोला—'उस शहर के लोग ही कौन-से सभ्य हैं? वह भी अपने लाड़लों की शादी कर रहे होंगे। भला, लग्न हाथ से चला जाए।' वह वीभत्स हँसी हँसा और कमरे में व्यग्रतापूर्वक टहलने लगा।

न-जाने क्या सोच कर उस के माथे पर पसीना आ गया। पसीना पोंछते हुए उसने बालों को पीछे किया और गर्दन झटकी। फिर खिड़की से बाहर देखने लगा। उसकी शून्य दृष्टि को कुछ न दीखा। एकाएक उसे दुर्बलता अनुभव होने लगी। पैर काँपने लगे। अंधड़ से उखड़े हुए पेड़ की भाँति उसकी देह दन से चारपाई पर गिर गई।

बबुआ ने अनुभव किया कि उसकी रग-रग थक गई है। उसकी

देह विश्राम को पुकार रही है और मन स्नेह और शांति के आँचल में छिप जाना चाहता है। पर स्नेह और शांति उसे आश्रय देने के बदले परंपरा का कंकाल बना रहे हैं। तो क्या जीवन मरुभूमि बन गया है ? स्नेह-शांति की पुकार अरण्यरोदन-मात्र है ? वह सहम गया। आँखें पथरा गईं। ओठ खुल गए। खुले ओठों से हाय-हाय करके आकांक्षा बाहर भागने लगी। अब जीवन में रह क्या गया है—सूनी रातें और लम्बी साँसें ? उसने मर्मांतक पीड़ा से सिर पीट लिया। संभव है सिर फूटने से हृदय को वेदना कम अनुभव हो। वह व्याकुल हो गया। सिर फूटने का नाम नहीं ले रहा है, हाथ अशक्त प्रतीत हो रहे हैं और वेदना बढ़ती जा रही है।

उसका दम घुटने लगा। वह बेचैन होकर करवटें लेने लगा। इतने में उसका छोटा चचेरा भाई शोर मचाता हुआ नीचे से दौड़ कर ऊपर आ गया—"दादा उठो, ससुराल, ससुराल नहीं चलोगे ? मैं तुम्हारी डोली में बैठूँगा। आज तो तुम्हारी दुल्हन आएगी। ताई कहती है कि दुल्हन सवा लाख की है।" उसकी आँखें विस्मय से विस्फारित हो गईं —"क्यों दादा, सवा लाख बहुत होता है ?" दोनो हाथों को तानते हुए पीछे ले जाकर उसने सानन्द फुदकते हुए कहा—"इतनी सारी पतंगें आ जाएँगी ?" बबुआ के सिर हिलाने पर वह उस पर झुक कर मचलने लगा—"दादा, मेरे लिए भी एक सवा लाख की बहू ला दो। फिर मैं पतंग के लिए तुम्हें तंग नहीं करूँगा। जब पैसा चाहिएगा सवा लाख की बहू को खोलकर निकाल लूँगा।"

बबुआ चौंक उठा और आत्म-चिंतन में निमग्न हो गया—'ओह, वह बलिपशु मैं ही हूँ। शहनाई का वह तांडव नृत्य मेरे ध्वंस की घोषणा कर रहा है। अपना हृदय विदीर्ण करके यदि माँ-बाप की छाती न जुड़ा सका तो उनका इकलौता बेटा किस बात का! कुल-परम्परा और मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए मुझे आज सवा लाख की दुल्हन लानी है।' जेवरों से छमछमाता हुआ कोलतार का पीपा उसके सामने साकार हो उठा। उसने घबड़ाकर आँखें मलीं, कोलतार के पीपे को आँखों से

दूर करने के लिए तथा अपनी प्रेयसी मोना को पाने के लिए।

मोना को वह हृदय दे चुका था। उसे अपनी जीवन-सहचरी मान चुका था। किन्तु माता-पिता की दुर्दम धन-लालसा के आगे लाचार था। पिता—वह पुत्र के जन्म के साथ ही व्रत ले चुके थे कि वही इस घर में आएगी जो अपनी तोल का सोना लाएगी; और माँ—वह धन संबंधी कुल की परम्परा के आगे कुछ नहीं समझना चाहती थी।

परिस्थिति का बोध होने पर उसने गला खखारते हुए भराई आवाज में अपने छोटे भाई से कहा—"तू चल, मैं आया।"

"दादा, चलो ना, साथ चलेंगे।" बबुआ का हाथ पकड़ते हुए वह हठपूर्वक बोला।

उसके गालों को प्यार से थपथपाते हुए बबुआ ने चुमकारा—"मेरा राजाभैया, कितना कहना मानता है! शाम को मेरे साथ डोली में बैठेगा! बोल क्या लेगा? ढेर-सी पतंगें?"

बबुआ गोल मुँह बनाकर हँस दिया और मुन्ना उत्फुल्ल होकर नीचे भाग गया।

बबुआ ने अपनी आँखें मूँद लीं और दीवाल की ओर मुँह करके लेट गया। उसने अवसाद और नैराश्य की चादर ओढ़ ली।

सेठ कौड़ीमल के घर के अंदर और बाहर सर्वत्र आज बहुत रौनक है। घर के अंदर यदि सेठानी की नथ, करधनी और पायजेब चमक रहे हैं तो बाहर बिजली के बल्ब जगमगा रहे हैं। अन्य सजावट में बंदनवारों, कदली-स्तंभों, अशोक, आम्र के पत्तों तथा मंगलकलशों की अपार शोभा है। कागज के बंदनवार सेठ को पसंद नहीं हैं। पसीने की कमाई से भला कोई कागज खरीदेगा? उस पर पंडितों ने पंचपल्लव को शुभ बताया है। अतः सर्वत्र आम, जामुन, कैथ, बिजौरा और बेल के पत्ते जी खोल कर लगाए गए हैं।

उत्सव के अवसर पर नौकर-चाकर प्रसन्न हैं। आज वे स्वतंत्र हैं। उनके चेहरों पर हवाइयाँ नहीं उड़ रही हैं। वे नित्य की भाँति दुबके

हुए नहीं बैठे हैं वरन् एक दूसरे से हँसी-ठट्ठा कर रहे हैं। उनकी हँसी-खुशी का कारण यह नहीं है कि उन्हें कपड़े और मिठाइयाँ मिली हैं वरन् इसलिए कि बेटे की ससुराल से प्राप्त होनेवाली स्वर्ण की ढेरी से आगामी पीढ़ियों की व्यवस्था करने में सेठ जी लीन हैं और इस कारण तनिक-से में क्रुद्ध होकर मोटा डण्डा उठा कर गालियों की बौछार करने का समय नहीं पा रहे हैं। अभी कुछ महीने पहिले तक सेठजी का स्वभाव खूँखार जानवर का-सा था। बेटे के व्याह की चिन्ता ने उन्हें चिड़चिड़ा और क्रूर बना दिया था। उन्हें रह-रह कर अपने दिन याद आते थे। इस आयु में तो वे दो बच्चों के बाप बन चुके थे। (बच्चे नहीं जिए वह बात दूसरी है !) उन्हीं का लड़का अब तक क्वाँरा बैठा है ! कुल की मर्यादा धूल में मिलने जा रही है। लड़का एम० ए० में पढ़ रहा है और अविवाहित ! पूर्वज क्या कहेंगे ? मैं अपने कर्त्तव्य को नहीं निभा पाया। बिरादरी वाले तथा पड़ोसी भी मन-ही-मन अवश्य हँसते होंगे, भले ही मेरे कुल और धन के कारण खुलकर कुछ नहीं कहते हों। सेठ का सिर झुक जाता। इस असफलता और अपमान का दण्ड भुगतना पड़ता था सेवा-टहल करने वालों को। नमक वे खाते हैं तो लात सहने क्या कोई और आएगा ?

जब मुनीम जी ने बतलाया कि करोड़पति सेठ चुन्नीमल अपनी चौदह वर्षीया पुत्री का विवाह करने के लिए मुँहमाँगा दहेज देने के लिए तैयार हैं तो दुःख से शय्याग्रस्त सेठ तकियों के सहारे बैठ गए और बात पूरी होने तक वे पूर्ण स्वस्थ हो गए।

लड़की के बारे में बताते हुए मुनीम जी ने बताया कि लड़की खूब स्वस्थ है। थाल-सा चेहरा है। भारी-भारी लटके गाल हैं। एक-एक पैर इतना मोटा है कि हाथी सकुचा जाए और उसकी कमर के व्यास के यह हाल हैं कि करधनी बनवाने में ही बाप का ९०-१०० तोला सोना लग जाएगा।

सेठ की प्रसन्नता के क्या कहने ! आज वर्षों का स्वप्न पूरा होता

हुआ दीख रहा था। सोने की ढेरी के कारण ही तो उन्होंने अच्छी-अच्छी लड़कियों की उपेक्षा की थी। तत्काल कुर्ते की जेब में हाथ पहुँचा, मुनीम जी का मुँह मीठा करने के लिए एक रुपया निकालना चाहते थे। ज्योंही हाथ को चाँदी का स्पर्श हुआ कि उज्ज्वल ज्ञान प्राप्त हो गया और मिठाई का काम पान के बीड़े से चल गया! पान के बिना तो मांगलिक कार्य प्रारंभ ही नहीं होते। अतः रुपया निकालने के बदले चाँदी का डिब्बा निकाला और उसे खोल कर एक पान मुनीम जी की ओर बढ़ा दिया।

सेठ जी गद्‌गद थे। भक्तिभाव से बोले—"भगवान् सब की सुनते हैं। मोटी बहू का पैर लक्ष्मी का पैर है। अपने वजन का सोना लाएगी।" वह मंद-मंद मुस्करा दिए—"बिना सोने के भगवान् भी प्रसन्न नहीं होते। अभीप्सित वस्तु पाने के लिए उन्हें सोना चढ़ाना होता है।"

तत्काल उन्होंने बेटे को बुलाया। आज उनका वात्सल्य उमड़ा पड़ रहा था। दुलार से बोले—"बेटा, आज मैं तेरे तथा अपने वंश के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर सका हूँ। अब तू इस चतुराई से काम करना कि घर की लक्ष्मी दिन-पर-दिन बढ़ती जाए। लक्ष्मी ही सब कुछ है। मर्यादा, स्वर्ग, मुक्ति और मनोकामनाओं की दाता यही है। दान एवं धन से संसार और स्वर्ग दोनों ही खरीदे जा सकते हैं। अब एक सीख देता हूँ—गाँठ बाँध ले। तू उसे ही अपने बेटे की बहू बनाना जो मेरे पोते का घर सोने से पाट दे। जब मैंने दस पुश्त का ठिकाना कर दिया है तो तुझे बीस पुश्त का करना ही चाहिए। आखिर तुमने इतना पढ़ा-लिखा है, वह किस काम आएगा?"

बबुआ के अन्दर कोई कराह उठा—'आह, एक पुश्त जी जाय वही बहुत है।' बाप के निष्ठुर, कृपण, कलहप्रिय जंगली स्वभाव तथा धनोन्मादी प्रवृत्ति के कारण उसने अपनी अंतरध्वनि को मूक ही रहने दिया। फिर जो बाप बेटे को अपत्य-प्रेम देने के बदले उससे व्यावसायिक नाता रखता है उससे स्नेह और विवेक की याचना करना विडं

साँड़ का आलिंगन करना है। जिस बाप की धनलिप्सा ने उसे मोना के घर डण्डा लेकर दौड़ाया उससे और क्या आशा की जाए।

बबुआ शांत संस्कृत प्रवृत्ति का था। न-जाने विषधर के साथ मणि कैसे रहती है? संभव है अपनी जड़ प्रकृति के कारण। बबुआ ने भी उस प्रकृति को अपना लिया था। परिस्थिति कितनी ही उत्तेजक हो वह पाषाणवत् मूक बना रहता था। उसके विवेक ने उसे बतलाया कि यदि अपने ही माँ-बाप से उसकी आकांक्षा-पूर्ति के बदले घर में व्यर्थ में गाली-गलौच होती है, सेठ दहाड़ने लगते हैं, सेठानी ढाड़े मारकर रोने लगती है तथा निर्दोष नौकर-चाकरों पर अनगिनत अत्याचार होने लगते हैं, तो उससे अच्छा यही है कि वह चुप रहे और वेदना के कीटाणु को अन्दर-ही-अन्दर हृदय कमल का सर्वनाश करने दे। बबुआ ने सर्वनाश के सामने गर्दन झुका ली थी।

साथ ही बबुआ यह भली-भाँति समझता था कि यदि उसने किसी भाँति मोना को अपना भी लिया तो परिवार का विषाक्त वातावरण उसका दम घोटकर ही साँस लेगा। माँ-बाप की धनलिप्सा मोना पर मानसिक और शारीरिक अत्याचार तो करेगी ही, संभव है उसे विषपान भी करवा दे। 'मेरा हृदय दीप इस घर के प्रभंजन में बुझ जाए उससे अच्छा तो यही है कि वह दूसरे घर में रहे। सौम्यता, शिष्टता और संस्कृति की नवनीत को यदि मैं किसी भाँति इस घर में ले भी आऊँ तो क्या मैं उसे उनका देय दे सकूँगा और यदि मैं उसे लेकर दूर चला जाऊँ तो क्या वहाँ चैन से रह पाऊँगा? न-जाने इन लोगों की धनलिप्सा इनसे क्या-क्या दुष्कर्म करवाए! और मोना! वह भी तो नहीं चाहती कि उसके कारण मैं परिवार से नाता तोड़ूँ तथा अपनों के दुःख का कारण बनूँ। आज मोना को मैं यह समझाने में अपने को असमर्थ पा रहा हूँ कि माँ-बाप के रूप में मेरा अपने पूर्वजन्म के शत्रुओं से पाला पड़ा है। जो कर्म वे अपनी बुभुक्षा की तृप्ति के लिए कर रहे हैं वह क्या मुझे उनसे दूर नहीं कर देगा? चाहने पर भी मैं उन्हें अपना नहीं समझ पा रहा हूँ।

उनका क्रूर और नृशंस स्वभाव मेरे हृदय को घायल कर रहा है और मेरे स्वत्व को निष्प्राण !'

निर्जीव की भाँति वह सब-कुछ सहना चाहता था। 'जब तुमसे मेरा कुछ भी नहीं है, मैं नितांत एकाकी और असहाय हूँ, तो फिर जीवन के प्रति मिथ्या आकर्षण कैसा ? आत्म-विनाश ? मेरा विनाश ! हाँ, सेठ के इस पुश्त का विनाश, उसके कुल का ध्वंस ! इस हिंस्र कुल की अन्तिम परिणति यही होनी चाहिए।'

बबुआ निस्पंद और निष्प्राण-सा हो गया। वह भावनाओं और संवेदनाओं की पीड़ाओं तथा अतर्द्वंद्व से मुक्त हो गया। अपनी ही संघर्षरत आत्मा का तटस्थ दर्शक-मात्र रह गया। उसका अन्तर शांत हो गया था। पर, बीच-बीच में इस शांत दर्शक के सुप्त अन्तर्द्वंद्व को सेठ चुन्नीलाल की लड़की की स्मृति जगा देती थी। 'क्या यह आत्म-विनाश एक बच्ची के जीवन को मिटा कर ही रहेगा ? उस बच्ची का जीवन, उसका सुहाग....' बबुआ की जबान लड़खड़ा उठी—'मैं....किन्तु क्या मैं उसे प्यार दे सकूँगा ?' वह रो उठा।

बबुआ अपनी इन दो मनःस्थितियों के बीच तब तक तैरता-उतरता रहा जब तक कि निर्धारित समय पर वह बलि-पशु न बना दिया गया। अभी तक परिस्थिति का काल्पनिक सामना था और अब वास्तविक ! इस बीच बबुआ ने मोना की प्रेरणा से अपने को ठोक-पीट कर तैयार कर लिया, अपरिचिता को अपना बचा-खुचा प्रेम समर्पण करने के लिए।

शहनाइयों और नगाड़ों के बीच जब उसने सब विधियाँ यंत्रवत् पूरी कर लीं तो घर वाले उसकी शालीनता पर मुग्ध हो गए। माँ-बाप, रिश्ते-नातेदार, बुड्ढे-बुढ़िया आदि सब प्रसन्न हो कर कहने लगे कि कैसा संकोची लड़का है। आजकल के लडके शादी की रस्में मानने में कितना नाक-भौं चढ़ाते हैं और एक यह है, सब कुछ चुपचाप कर रहा है।

बहू घर आई और वह क्षण भी आ गया जब बबुआ को एक अन-जान अपरिचित गठरी को अपना प्रेम समर्पण करना था। बबुआ का मन दया से अभिभूत था। 'यदि माँ-बाप ने मेरे जीवन के साथ खिल-वाड़ किया है तो मैं दूसरे के जीवन के साथ नहीं कर सकता। यदि नैसर्गिक प्रेम नहीं दे सकता तो कर्त्तव्य तो निभा ही सकता हूँ।'

कर्त्तव्य-बोध उसके संकल्प को दृढ़ बनाने में सहायता कर रहा था और साथ ही उसके कानों में अनवरत गूँजती हुई मोना कि चेतावनी —'यदि आपने पराई लड़की का जीवन बिगाड़ा तो मैं आपको कभी क्षमा न करूँगी', इस संकल्प को दृढ़ से दृढ़तर बना रही थी। उसको क्या मालूम कि उसको सम्बल देने वाली वाणी स्वयं निःसहाय हो रही है, अपना विवेक और आत्म-संयम खो बैठी है—बबुआ के ब्याह के आघात ने उसे शय्याग्रस्त कर दिया है।

जब उसने अपने शयनकक्ष की देहरी पर पैर रखा तो कपड़े की गठरी के कोलतार से रँगे हुए दो लोहे के डंडे झाँझ, पायजेब, रम-झोल और चुटकियों से सुसज्जित दीखे। साथ ही घुटनों पर टिके सिर के लम्बे घूँघट के ऊपर दो स्वर्ण से मंडित हाथ भी दिख रहे थे। पैरों की आहट से चौंक कर वह हाथ क्षण-भर को हट गए और घूँघट हिल गया। उसके अंदर से जिस स्मित किन्तु बड़ी-बड़ी आँखों वाली सलज्ज नवयौवना के प्रति उसने काल्पनिक जगत् में दायित्व निभाना चाहा था उसके बदले नीरस, अन्दर को धँसी हुई छोटी आँखें, फूले गाल, बाहर निकले दाँतवाले मुँह को खोल कर चपड़-चपड़ ध्वनि के साथ पान खा रही फूहड़ लड़की को देख कर मानो उसे बिजली का धक्का लगा और वह आसमान से नीचे गिर पड़ा। संकल्प रूपी लहर को बनते देर न लगी कि वह मिट गई! वह अपने ऊपर नियंत्रण खो बैठा।

किसी अदृश्य शक्ति ने उसके पाँवों को आगे नहीं बढ़ने दिया। जिन दबे पाँवों से वह दृढ़तापूर्वक प्रवेश कर रहा था वही उसे पीछे ले गए। अजाने ही वह दूर हटता गया। दरवाजे के पास तक खड़ा न

रह सका। उषाकाल की लालिमा ने उसे भास हुआ कि वह छत की मुँडेर के पास है। वह आश्चर्य से भर गया। कब वह देहरी से निकल कर बरामदे में आया और बरामदे से मुँडेर पर, वह यह स्मरण करने में असमर्थ था। संकल्प-विकल्प में ही उसने छत पर घूम कर सारी रात बिता दी थी।

उसके बाद कई रातें आईं—पर सभी पूर्ववत् थीं। वही संघर्ष, वही वेदना और वही पराजय। अपनी दुर्बलता के आगे वह स्वयं नत-मस्तक था। अपनी ओर से पूर्ण निराश होने पर उसका ध्यान अपनी बहू की ओर गया। क्यों न उसे ही योग्य बना दूँ। वह आशान्वित हो उठा और उत्साहपूर्वक सेठानी के पास पहुँचा। माँ के आँचल की किनारी से खेलते हुए वह खुशामद के स्वर में बोला—"अम्माँ, अब तो तुम प्रसन्न हो? तुम्हारे मन की बहू आ गई है। अब थोड़ा मेरे मन का भी कर दो। एक मास्टरनी धर दो। थोड़ा-बहुत वह पढ़ ले...."

सेठानी बीच में ही भड़क उठी—"क्या हमें उसे पढ़ा कर कुल में कलंक लगाना है? तुझे कुल की मर्यादा का ध्यान नहीं है। तेरी नानी, दादी, फूफी और मैं—किसी ने भी पढ़ना सीखा है जो आज वह सीखेगी? बहू का काम तो घर की देख-भाल करना होता है और सास-ससुर की सेवा करना। मैं बुड्ढी हो गई हूँ—कोई मुझे पैर दबाने वाला तो चाहिए।" अपने पल्ले को झटके से छुड़ाकर वह दूसरे कमरे में चली गई और काम में लग गई।

किन्तु मन काम में लगने के बदले संदेह के धुएँ से भर रहा था। अवश्य ही बहू ने बेटे को सिखाया होगा अन्यथा बहू की पढ़ाई से बेटे का क्या संबंध! उसने दाँत किटकिटा कर कहा—"देखूँ, कैसे पढ़ती है?"

बबुआ ने इसके बाद किसी से कोई बातचीत नहीं की। दिन में वह बाहर रहता या नीचे के कमरे में घण्टों किताब खोल कर बैठा रहता और रात छत पर घूम कर बिता देता। किन्तु उसका मुँह दिन-पर-दिन वेदना-क्लिष्ट होता जा रहा था और शरीर क्षीण।

पास-पड़ोस वाले उसे देखकर आश्चर्य करते थे। एक बुढ़िया ने सेठानी से पूछ ही लिया—"क्या बात है, बबुआ प्रसन्न नहीं दीखता क्या लड़की वालों ने दहेज कम दिया है?"

सेठानी बिगड़ उठी—"कौन कहता है मेरा बेटा दुःखी है। मुए का मुँह नोंच लूँगी। छी-छी, मेरा बेटा आजकल के लोंडों-सा निर्लज्ज नहीं है। जब देखो लुगाइयों के पास बैठे रहते हैं। बबुआ तो माँ-बाप का इतना लिहाज करता है कि आधी रात बीते ऊपर जाता है और पौ फटने के साथ ही नीचे उतर आता है। शादी में नहीं देखा था जिसने जो कहा वह उसने चुपचाप सिर झुकाए कर दिखाया।"

लेकिन लोगों को कहाँ संतोष! अप्रत्यक्ष रूप से बेटे के दाम्पत्य जीवन के बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाही—"क्या बात है बहू सुस्त दीखती है?"

सेठानी प्रसन्न हो कर बोली—"क्या पता भगवान् ने कृपा की हो मेरा तो नौ साल की आयु में विवाह हो गया था और चौदहवाँ लगा नहीं था कि भगवान् ने गोद भर दी। मैं तो गुड़ियों का खेल खेलते माँ बन गई। बहू तो चौदहवाँ पूरा कर चुकी है। क्या पता साल-भर के अन्दर ही अयोध्या के रामजनम के बधावे बजने लगें।" सेठानी ने दाँत निपोर दिए।

घर के वातावरण ने बबुआ को गुमसुम बना दिया। वह कठपुतली की भाँति घर में रहता—सब कुछ देखते हुए न देखता, सुनते हुए न सुनता। उसकी इस अंतःस्थिति ने उसे अन्दर-ही-अन्दर खोखला कर दिया। उसे लगता कि नियति-रूपी नर्तकी उसे नचा रही है और वह अन्धड़ में तिनके की भाँति असहाय है, यह असहायता उसके लिए असह्य थी। उसने इस पर जी-जान से विजय प्राप्त करने का प्रयास किया। पर वह उसे दिन पर दिन अधिक जकड़ती गई।

वह अपनी बहू के पास जाना चाहता था, उससे बोलना चाहता था, उसे सम्मान देना चाहता था, क्योंकि वह यह भली-भाँति समझता

था कि इस घर में उसके अतिरिक्त [illegible] है। यदि उसने [illegible] को मुँह नहीं लगाया तो वह [illegible] जाएगी। अकस्मात ही उसका [illegible] और उसे छूना तो दूर रहा वह अपने कमरे की देहरी के [illegible] तक न रख सका। मानो देहरी ने धन की रक्षा करने के [illegible] धर लिया हो और कह रही हो कि वही इस कमरे में प्रवेश कर सकता है जो स्वर्ण प्रतिमा को अपनी हृदयेश्वरी बना सकता है। देहरी पर पैर रखते ही वह भयंकर सर्प-दंश से तड़प उठता था। [illegible] उसकी [illegible] में झुनझुनी उठती रहती और उसके अंग प्रत्यंग ऐंठने लगते। वह विक-लांग-सा हो जाता।

कुछ ही दिनों में इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि वह अधिकतर घर के बाहर ही रहने लगा। घर आते ही उसे चक्कर आने लगते, कनपटी की स्नायुएँ फटने लगतीं, सिर के दो टुकड़े होने लगते, आँखें ऊपर चढ़ जातीं और नाक-मुँह से साँस लेना भयंकर यातना हो जाती। वह उलटे पाँव लौट पड़ता। किसी एकांत स्थल में पेड़ के नीचे बैठ कर अपने बारे में सोचता, अपनी क्षत-विक्षत आत्मा को समझाता और सुदृढ़ संकल्पों का निर्माण करता। किन्तु जब संकल्प को कार्यरत करने की घड़ी आती एक अज्ञात शक्ति उसे शिथिल कर देती। उसके पैर लड़खड़ाने लगते, वह अपने हाथ मलने लगता, उसकी वाणी में कंपन आ जाता, आँखें भावशून्य और लक्ष्यहीन हो जातीं।

जब वह थक जाता और यह आवेग कुछ मंद पड़ जाता तब वह स्वयं अपनी दुर्बलता से घृणा करने लगता। उसका संकल्प दुर्बलता से संघर्ष करने के लिए पुनः जाग्रत हो उठता। किन्तु संघर्ष और द्वंद्व उसे दृढ़ बनाने के बदले अधिक दुर्बल, असहाय और दयनीय बना रहे थे। एक असह्य थकान, अवसाद और विचित्र कुंठा तथा निराशा ने उसे पूर्णरूप से आच्छादित कर दिया था।

वह इस स्थिति से उबरता-न-उबरता कि उसने सुना कि सोना

भयंकर यक्ष्मा से पीड़ित हो गई है और डाक्टरों ने उसके जीवन के बारे में निराशा प्रकट कर दी है। वह मोना से मिलने के लिए आकुल हो उठा पर उसके अशक्त हाथ-पाँव ने जवाब दे दिया। बबुआ किसी काम का न रहा। नहाना तो दूर वह दिनों तक कपड़े तक नहीं बदलता; खाना खाने बैठता तो हाथ असहयोग कर देते। थाली के पास पहुँचने के पहिले ही वह टेढ़े हो जाते और जब किसी तरह उन्हीं हाथों से वह मुँह तक कौर ले जाता तो ओंठ काँपने लगते और कौर अपने निर्दिष्ट स्थान में पहुँचने के बदले कपड़ों पर गिर पड़ता। उसे यह प्रतीत होने लगा कि वह अपनी देह का स्वामी नहीं है, दर्शकमात्र है।

देह के इस दर्शक की दशा घर वालों से छिपी न रह सकी। सेठ-सेठानी देख रहे थे कि स्वच्छता के प्रेमी बबुआ ने महीने भर से न नहाया है, न कपड़े बदले हैं और न वह खाना ही खाता है। उन्होंने स्वयं उसका काम करना चाहा और नौकरों को भी हिदायत कर दी। पर ज्योंही इनमें से कोई भी उसके पास पहुँचता बबुआ विस्मृति के गर्भ में डूब जाता-उसके हाथ-पैर ठंडे हो जाते और चेहरे का भाव सूली पर चढ़ाये जानेवाले निर्दोष बन्दी-सा हो जाता। वह चुपचाप शून्य को ताकने लगता और उसके हाथों की अँगुलियाँ एक दूसरे पर चढ़ने-उतरने लगतीं। सेठ-सेठानी इस दुःख से काँप उठते; उनकी छाती में सूल-सी चुभने लगती और आँखों से अविरल आँसुओं की धार बहने लगती। वे उसे भूखा-प्यासा और गन्दा ही रहने देते। भला माँ-बाप अपने ही बेटे के हृदय में भाला कैसे घुसेड़ सकते थे।

एक दिन ऐसी ही मानसिक स्थिति में बबुआ घर से निकल गया और उसने पेड़ की छाया को अपना निवास बना लिया। वह पेड़ के नीचे बैठा रहता। उसका आत्मभाव विस्मृत हो गया था और हाथ काँपते रहते थे। सेठ ने बबुआ की देख-भाल के लिए दो नये नौकर रख दिए थे। जब बबुआ बैठे-बैठे लुढ़क जाता तो वे उसे ओढ़ा देते। यदि कभी वह यंत्रवत् मुँह खोल देता तो उसे खाना खिला देते और पानी पिला

देते अन्यथा लाचारी थी। वैसे सेठ ने नौकरों को समझा दिया था कि दबुआ की आँखों से ओझल रह कर ही उनकी देख-भाल करें ताकि वह कभी अकस्मात् यह न समझ जाए कि उन्हें सेठ ने नियुक्त किया है।

सेठ-सेठानी अब आठ-आठ आँसू रोने लगे हैं। बेटे की दशा पर उन्हें उतना दुःख नहीं होता जितना कि इस बात पर कि सेठ चुन्नीलाल ने अपने काले ग्रहों की लड़की को उनके सिर मढ़ा—काले ग्रहों की न होती तो भला इतना दहेज क्यों देते! सेठ जी गुस्से में दाँत पीसने लगते। मुनीम जी और चुन्नीलाल ने मिलकर मुझे बेवकूफ बनाया है! और एक दिन प्रतिशोध में उन्होंने चुन्नीलाल की उनकी लड़की वापिस कर दी और मुनीम जी को निकाल दिया।

सेठानी अब सबके सामने बीच आँगन में बैठकर सिर पर हाथ दे कर रोती है। "मैंने तो बेटे को पालपोस कर जवान बना दिया था पर बहू मंगली निकली।" बेटे तथा वंश की रक्षा के लिए पण्डित जी नियमित रूप से शान्ति पाठ करते। सेठानी को अब एक ही चिन्ता रहती, किसी तरह बेटा घर के अंदर पैर रखे तो वे सुलक्षणा बहू लाकर उसकी स्थिति सुधार लेंगी।

इसी बीच दबुआ के कानों में यह बात पहुँची कि मोना अब नहीं रही। उसको लगा कि अब उसका अपना कोई नहीं रहा। स्नेह की रिक्तता की भावना ने उसका सर्वस्व निचोड़ लिया। जिस मोना के कारण वह किसी भाँति अपने को सँभाले था जब वही नहीं रही तो वह अपने अस्तित्व की चेतना को पूर्णतया खो बैठा! सबके देखते-देखते वह दिगम्बर हो गया। देह-चेतना से ऊपर उठ जाने पर भी वह मुक्त न हो सका। परम्परा से ग्रस्त मानव को जीवन की सड़ाँध में अभी और रहना था! संघर्ष, निराशा और पराजय के नरक में तपना था! दबुआ अर्धविक्षिप्त हो गया। उसी अर्धविक्षिप्तावस्था में वह जहाँ-तहाँ घूमने लगा। जाड़े-बरसात, लू और हड्डियों में घुसनेवाली ठण्डी हवा तथा

प्रकृति के विभिन्न कराल रूपों पर इस नियति के हाथ के कंकाल ने विजय पा ली है। किन्तु फिर भी वह नरकंकाल अभी गतिशून्य नहीं हुआ है। इसकी दोनों टाँगें चलती रहती हैं। वे टाँगें कभी उसे किसी दुकान के पास पहुँचा देती हैं और कभी किसी रिक्शा या मोटर के पास। अनजाने लोग घबरा उठते हैं किन्तु जानने वाले उन्हें समझा देते हैं। "डरने की कोई बात नहीं है। न वह किसी से बोलता है और न किसी को मारता है। बस मृत गाय समझ लीजिए। अपने ही भाग्य का खोटा है। पैदा हुए से आज तक लक्ष्मी चरण चूम रही है पर इसने उसे ठुकरा रखा है। लगता है गन्दी बदबूदार जगह ही इसे मोहती है।"

जब चलते-चलते टाँगें लड़खड़ाने लगती हैं और लड़खड़ाते-लड़खड़ाते टेढ़ी हो जाती हैं तो वह गिर पड़ता है। कभी किसी नाली के पास, कभी दुकान के आगे और कभी पगडंडी के पास। ऐसी स्थिति में सेठ के नौकर उसे पास ही किसी सुरक्षित जगह पर लिटा देते हैं।

कभी वह किसी रिक्शा में मूर्तिवत् बैठा भी दीखता है। न बोलता है और न हिलता। उसका मुँह खुला रहता है, आँखें फटी-सी, गर्दन आगे को झुकी हुई और स्नायु-दुर्बल हाथ अंदर को मुड़े हुए मानो कोई बंदर बैठा हो। कभी किसी हलवाई के आगे खड़ा होकर वह मिठाइयों को निर्लिप्त भाव से देखता है और कभी पनवाड़ी के शीशे को निर्जीव आँखों से अविचल घूरता हुआ दीखता है।

सेठ तथा उसके परिवार वालों एवं परिचितों को कई बार उसे देख कर यह भ्रम हुआ कि वह चेतना खो बैठा है, गतियुक्त मशीन मानव-मात्र है। पर चेतना का एक विचित्र लक्षण उसमें वर्तमान है। कभी-कभी वह अपने आप ही मुस्कराने लगता है और दोनों हाथ आगे किए दौड़ने-सा लगता है। फिर एकाएक चौंक उठता है। सिर पटकने लगता है और हाँ-आँ-आँ, हाँ-आँ-आँ करके दर्दनाक स्वर में चीखने लगता है।

रामी

रामी की अल्प-संतोषी प्रवृत्ति में भाग्य ने चार चाँद जड़ दिए थे। क्या चाहिए और उसे ?—रहने को छोटा-सा घर, मनोरंजन के लिए दो सलोने बच्चे और सम्दलरूप पति ! वह अपनी छोटी गृहस्थी में मग्न रहती—न कहीं आती, न जाती। घर से निकलते उसे शायद ही किसी ने देखा हो। भोग-विलास और आमोद-प्रमोद-प्रिय रिश्तेदार और पड़ोसी परेशान थे। बेचारी को घर में बहुत काम रहता होगा अन्यथा यह कैसे संभव है कि आदमी घूमे नहीं, सिनेमा न देखे, पास-पड़ौस की दावतों और पिकनिक्स में सम्मिलित न हो—"देखा लीलू की माँ, रात-दिन आने जानेवाले लगे रहते है। मुझे तो रामी पर तरस आता है। क्या करे, पाहुनों से मुक्ति मिले तो निकले। पता नहीं ये लोग इतने निलज्ज क्यों होते हैं। मैं तो बाज आई आतिथ्य सत्कार के आदर्श से।"

अधिक दयालुओं ने रामी के आचरण के मूल में पति की शंकालु प्रवृत्ति को खोज निकला—"कैसा खूँसट पति मिला है ! आप तो चौबीसों घण्टे बही-खातों में डूबा रहता है और रामी मन बहलाने के लिए दो मिनट को भी किसी से बोले तो फौरन किसी-न-किसी काम का बहाना करके पुकारने लगता है। देखते नहीं, रामी कैसी सहमी-सहमी रहती है ? यही हाल रहे तो कुछ दिनों में मर जाएगी या पागल हो जाएगी।" सुननेवाली ने मर्माहत होते हुए सिर हिलाकर अपनी समवेदना प्रकट की—"सीधी है, हम होते तो मियाँ जी को छटी का दूध याद आ जाता।" इस भाँति पड़ौसी-पड़ौसी होने के नाते रामी के असामाजिक जीवन पर टीका-टिप्पणी करते और सहानुभूति से मुँह लटका लेते, चाहे एक ही क्षण को।

कुछ पढ़े-लिखों ने तो रामी को अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान के प्रदर्शन का माध्यम बना लिया। उसके अंतर्मुखी स्वभाव के निर्माणात्मक तत्वों का विश्लेषण करते हुए न जाने वे किन-किन प्रभावों, अतृप्त इच्छाओं, दमित वासनाओं और ग्रंथियों के नाम गिनाते। कुछ समाज-सुधारक और भावुक हितैषी उसके जीवन को नष्ट होने से बचाने की महदाकांक्षा से उसके घर गए—उसे घर-घुग्घू बने रहने की हानियों पर लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दिया। 'आप जीवन के मूल्य को समझती नहीं हैं। भगवान् ने जीवन सुख-भोग के लिए दिया है। यदि आपके पतिदेव पैसे को ही सर्वस्व मान कर, दिन-रात वहीं खाते की दुनिया में रहते हैं तो आपको चाहिए आप अकेली ही बाहर निकलें। आप आज्ञा दें तो हम आपको लेने आ जाएँ।' 'क्या बना लिया है आपने अपने को? कैसा फीका-फीका मुरझाया हुआ चेहरा लगता है? शायद आप अतिथियों के कारण थकी रहती हैं। उन्हें बता दीजिए कि आप उनके लिए अपने को मिटा नहीं सकतीं।' 'आपका जीवन का अनुभव बहुत संकीर्ण है। बाहर आइए, देखिए, जीवन कितना विविधांगी और मोहक है।'

रामो की कहानी उसकी अपनी कहानी थी। सामाजिक जीवन से वह दूर रहना चाहती थी क्योंकि उसमें उसे घृणा, द्वेष, कटुता, वासना आदि ही दीखते। अतः उसने अपनी गृहस्थी में ही संतोष और पूर्णता के बीज रोपने चाहे। वह अपने आपसे कहती—'विधाता ने मेरे घर में सब सिद्धियों को भेज रखा है। इसी भाँति जीवन बीत जाए तो बड़े भाग हैं।' सब प्रकार के मनोरंजनों को वह घर में ही देखना चाहती थी—'मुझे बाहर से क्या करना? जिनका घर भुतहा है वही बाहर जाते हैं। घर की अतृप्ति ही बाह्य साधनों में तृप्ति खोजती है।'

उसके परिवार के छोटे-से विश्व से अभाव, अतृप्ति, घृणा आदि या तो भाग गए थे या उसका स्वभाव उन्हें नगण्य मानने लगा था। वह दिन-रात भजन गुनगुनाती रहती मानो उनके माध्यम से आत्मानंद में लीन होना चाहती हो।

वास्तव में रामी की अत्यधिक संवेदनशील प्रवृत्ति ने उसे जनभीरु बना दिया। छोटी-छोटी घटनाएँ, अनावश्यक प्रसंग, यहाँ तक कि सामान्य विनोद उसे छुईमुई की भाँति मुरझा देते। वह अकारण ही व्यग्र हो उठती। इस व्यग्रता से बचने के लिए वह अपने में ही केन्द्रित हो गई। यह आरोपित आत्मप्रेम बाह्य प्रभावों को ठुकरा देता और सामाजिक जीवन को उसके घृणित और एकांगी रूप में प्रस्तुत करके अनाकर्षक और त्याज्य बना देता।

पारिवारिक विश्व को सब कुछ माननेवाली तथा उसी में सुखी रहने वाली रामी अपने दायरे के बाहर न कुछ जानना चाहती थी और न कुछ समझना; न किसी को स्नेह देना चाहती थी, न किसी से लेना। सामाजिक कर्त्तव्यों की रूपरेखा निर्धारित करने वाले उसकी समझ से परे थे। 'जिस कर्त्तव्य के मूल में सहज स्नेह नहीं है उसे न जानना ही मेरे लिए हितकर है।' निन्दाएँ और आलोचनाएँ उसे विद्वेषजन्य लगतीं; आदान-प्रदान की भावना भित्तिहीन और राजनीतिक विवाद अर्थशून्य। रामी अपने स्वभाव से लाचार थी। नीड़ का पक्षी समाज में रहते हुए भी उसे नहीं अपना सका था।

रामी की प्रवृत्ति ने उसे घर के आर्थिक पक्ष की ओर से भी निश्चिन्त कर दिया। उसने अपने मन को यह कह कर आश्वस्त कर दिया कि जब जीवन की आर्थिक गाड़ी 'वे' सुचारु रूप से चला रहे हैं तो उसे झंझट में पड़ने की क्या आवश्यकता। रामी को वह सब अरुचिकर लगता जिसमें बाहरवालों के सम्पर्क की आवश्यकता होती। न जाने कब कौन क्या कह दे, और अपमान की कल्पना उसे घबड़ा देती। उसका दिल धड़कने लगता तथा हाथ-पैर ठण्डे हो जाते। सम्बलरूप पति पर अपना पूर्ण भार डाल कर वह बच्चों की दुनियों में विचरने लगी। आवश्यक-अनावश्यक सभी बातों से तटस्थ हो गई।

पति स्वयं परेशान थे। किसी बहाने उसे सामान्य जीवन में लाना चाहते थे। उसके भले के लिए तथा अपने को घरेलू कार्य-भार

से मुक्त करने के लिए। एक-आध बार जब उन्होंने जीवन के लिए धन आवश्यक बतलाते हुए रामी से कहा—'रामी, थोड़-बहुत पैसों का हिसाब सीख लो। अवसर-कुअवसर काम आएगा' तो वह तुनुक गई—'रहने दीजिए, अपनी व्यावसायिक बुद्धि को। जब भगवान् ने मुझे आपके साथ रखा है तब मैं क्यों पड़ूँ, इस जंजाल में। आप जितना देंगे मैं उतने से काम चला लूँगी।' पति लाचार थे। अन्तिम प्रयास स्वरूप उन्होंने कहा—"पर, सुनो तो! मैं यह थोड़ी कहता हूँ कि तुम अपव्यय करती हो। क्या जाने, कौन कितनी जिन्दगी ले कर आया है। तुम्हें पैसों का अन्दाज आ जाएगा तो मैं इस आशंका से मुक्ति पा जाऊँगा कि कल तुम भूखी न रहोगी।' वह रुआँसी हो गई—'आपको उस दिन की कल्पना भली लगती है जब मेरे लिए सब कुछ मिट्टी हो जाएगा।' बात यहीं पर समाप्त हो जाती।

सभी को अपनी आलोचना करते देख सामाजिक जीवन को एक बार भलीभाँति देखने और समझने की जिज्ञासा रामी में उत्पन्न होने लगी। 'एक बार देख तो लूँ, किस में कमी है? क्या मैं ही अत्यंत संकोची, आत्मप्रवण और संकीर्ण प्रवृत्ति की हूँ या बाह्य जीवन ही कृत्रिम निस्सार और खोखला है।' रामी का मानस इन तर्क-वितर्कों के वृत्त में घूम ही रहा था कि बीनू का तार आया—'कल आ रहा हूँ।' क्षण-भर को रामी प्रसन्न हो उठी। उसे लगा कि उसकी समस्याओं का अंत निकट है। 'बीनू तो मिलनसार है। कितने सारे मित्र हैं, उसके। उससे पूछूँगी कि क्या सचमुच में मुझमें कमी है। और यदि है तो किस प्रकार की क्योंकि मैं स्वयं अपने से प्रसन्न हूँ।' कृत्रिम भय के साथ वह हँस दी—'कहीं दूसरों के कहने पर चल कर धोबी और उसके गधे-सी दशा न हो जाए।'

किन्तु दूसरे ही क्षण वह उदास हो उठी। अपने घर में अपने को ही देख कर प्रसन्न रहने वाली रामी के लिए दूसरों के बारे में सोचना, उनके लिए कुछ करना यातना थी। वह व्यग्र हो उठी—'न जाने कितने

दिन रहेगा ? किस कमरे में रहेगा ? उसके [illegible] होगी, उसके साथ इधर-उधर जाना होगा, आदि कितनी ही बातें सोच कर वह चिन्तामग्न हो गई। उसे लगा उसकी स्वतंत्रता में बाधा पड़ने जा रही है। पर वह पति से भी कुछ नहीं कह सकती थी—यह यातना उसे अकेले ही भुगतनी पड़ेगी।

मेहमान का प्रश्न लेकर पति-पत्नी में कई बार मनमुटाव हो चुका था। सामान्यतः वह अत्यंत विनम्र, सहिष्णु और शीलवती रहती पर संबंधियों और मित्रों एवं मेहमानों के आते ही न जाने कैसी निर्दयता उसके व्यक्तित्व में छा जाती कि अभ्यागत यह समझे बिना न रहता कि वह तिरस्कृत है।

बीनू का तार पा कर पति मनाने लगे कि किसी तरह वह अच्छे मुँह चला जाता और पत्नी में स्वतंत्रता अपहरण के बोध के साथ ही एक अव्यक्त इच्छा उत्पन्न हुई, समाज को पहिचानने की ! प्रत्येक मनुष्य की अपनी सीमाएँ हैं। उसका जीवन एक परिधि से घिरा हुआ है। उस परिधि का अतिक्रमण करना साधारण मानव के लिए असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

बीनू की बालसुलभ चपल प्रवृत्ति ने अनायास ही रामी को बाहर की दुनिया का ज्ञान कराना प्रारंभ कर दिया—"चाची, यह कैसे हो सकता है, आज तुम्हें घूमने चलना होगा और हाँ, कल अच्छी पिक्चर आ रही है उसमें भी।"

बीनू के कहने में कुछ ऐसी आत्मीयता और आग्रह होता कि इच्छा न होने पर भी वह जाती। 'छिः ! छिः, बीनू का दिल दुखाना उचित नहीं है। बेचारा इतने स्नेह से कहता है और मैं मना कर दूँ ? कुछ ही दिनों की बात है। छुट्टी पूरी होने पर वह चला जायेगा। तब मैं और मेरा घर।' घर का विचार आते ही आत्म-मोह में डूबी हुई रामी की सारी थकान दूर हो जाती, मानसिक खीझ शांत हो जाती और वह मन-ही-मन आनन्दित हो कर मानो कह उठती—'आत्म-प्रेम का मैं मद पीऊँ।'

बीनू की आड़ में चाची लोकाचार से परिचित होने लगी। 'आज तो तुमने गजब कर दिया चाची। बेचारी मिसेज़ अग्रवाल ने बड़े स्नेह से कहा कि वे तुम्हारे यहाँ आएँगी और तुम मुस्कुरा-भर दीं। क्या तुम्हें नहीं कहना चाहिए था कि अवश्य आइएगा, मुझे खुशी होगी। अब तुम उन्हें चाय के लिए निमंत्रित कर दो।' 'चाची यह क्या, मिसेज आरोरा को तुमने धन्यवाद नहीं दिया। उन्होंने तुम्हें चाय पिलाई। इतनी आवभगत की।' लाचार चाची को हृदय की कृतज्ञता को ताक में रख कर मौखिक कृतज्ञता को अपनाना सीखना पड़ा। संस्कृति और सभ्यता के रूपों को अपनाना पड़ा।

ऐसे कृत्रिम आचार-विचार को अपनाने में प्रारंभ में चाची को विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। किन्तु कुछ ही दिनों में वह बेतरह ऊब गई। अपने को भूल कर सामाजिक शिष्टता को याद रखना उसके लिए यातना हो गई।

विवश हो कर उसने अपने पति से कहा—"मुझे अपने घर के कामों में ही सुख मिलता है। बाहर जा कर न जाने क्यों अच्छा नहीं लगता है। कुछ खोया-खोया-सा अनुभव करती हूँ।" फिर कुछ ठहर कर धीमे से बोली—"बीनू बहुत अच्छा है किन्तु वह दूसरों को समझने का प्रयास नहीं करता। यदि उसे घर में रहना नहीं भाता है तो दूसरों को भा सकता है। आप ही कहिए, क्या यह उसकी ज्यादती नहीं है—मैं अब घर से नहीं निकलूँगी।" यह कह रामी एकटक पति का मुँह ताकने लगी मानो उनके आश्रय में छिप कर बाह्य जगत के प्रतिकूल तत्वों को भूल जाना चाहती हो।

पति ने समझाते हुए कहा—"तुम बीनू को गलत समझ रही हो। मैंने ही उससे कहा था कि मैं अपने व्यावसायिक जीवन के कारण अत्यधिक व्यस्त रहता हूँ। वह अपनी महीने-भर की छुट्टी में तुम्हें खूब घुमा-फिरा दे।" फिर सस्नेह चुटकियाँ लेते हुए बोले—"भई, पास-पड़ौस की बदनामी से डरता हूँ। तुम्हारे घर से न निकलने का दोष

मेरे सिर पर मढ़ा जाता है।"

रामी अपनी धुन में कहती गई—"मैं कुछ नहीं जानती। बच्चों से अलगाव मैं नहीं सह सकती। वहीं वाले का नीरस जीवन जिन्होंने बिताया आप क्या जानें माँ का हृदय। जितनी देर बाहर रहती हूँ नन्हे-मुन्ने की याद सताती है।"

पति ने समझाना चाहा—"नन्हे-मुन्ने सदैव छोटे थोड़े रहेंगे। पढ़ाई के लिए बाहर जाएँगे, नौकरी करेंगे और उनकी अपनी गृहस्थी होगी। दो-चार लोगों से संपर्क बना रहेगा तो बच्चों के बाहर जाने पर अकेलापन अनुभव नहीं करोगी। सुख-दुःख के साथी पास-पड़ौसी ही होते हैं। फिर घर में रह कर प्रवृत्ति संकीर्ण होने का डर रहता है।"

रामी झुँझला उठी—"यह मुझे समझने का प्रयास नहीं करते। जब मौका मिला अपना पुराना राग अलापने लगते हैं। शादी के दिन से यही सुनती आ रही हूँ कि तुम संकीर्ण प्रवृत्ति की हो। बाहर वाले बड़े अच्छे होते हैं। उन्हें समझने का प्रयास करो। बस, कोई बुरा है तो मैं।"

किन्तु अन्य अवसरों की भाँति इस बार रामी रोने नहीं लगी अथवा अत्यधिक उदास नहीं हुई। उसने भिन्न प्रकार से अपने मन को समझा लिया—'मेरे सुख के लिए ये दिन-रात काम में पिले रहते हैं और मैं इनके भतीजे का मन रखने में सुकुर रही हूँ। बीस दिन कट गए हैं—दस दिन की बात और है। इनको दुःखी करके क्या लाभ!' और रामी ने बीनू को सब प्रकार से स्नेह देने का निश्चय किया।

किन्तु निश्चय पर आधारित स्नेह बालू के घरौंदे से अधिक न टिक सका। वह रामी के व्यक्तित्व की दीवाल को तोड़ न सका। वह बीनू के आमोद-प्रमोदप्रिय स्वभाव से अधिकाधिक घृणा करने लगी। न चाहने पर भी चाहने लगी कि वह जल्दी चला जाए।

रामी की स्थिति विचित्र थी। एक ओर बीनू के प्रति उसका ममत्व बढ़ता जा रहा था और दूसरी ओर परस्पर की प्रवृत्तियों के विरोध के

कारण वह बीनू के सहज स्नेह और स्वभाव से आकर्षित होने पर भी उसके सामाजिक कर्त्तव्य-ज्ञान को नहीं अपना सकी थी। किसी प्रकार राम-राम करके उसने चार दिन और बिता दिए। इस अल्प अवधि में उसका स्वभाव उसके स्नेह पर विजय पा गया।

दोपहर का समय था। उसी समय वह बाहर से आई थी, अपने आप से थकी-हारी। उसने कमरे में प्रवेश किया और देखा कि पति महाशय चादर तान कर सोए हुए हैं। उसके सम्मुख दोनों स्थितियों का अन्तर नाच उठा—उसे अपनी स्थिति की असहनीयता इतनी तीव्र लगी कि उसका अन्तर्दाह फूट पड़ा और वह चुपचाप सोए हुए पति पर बिगड़ उठी। उन्हें झकझोरते हुए उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी—"सुनते हैं, मैं अधिक नहीं सह सकती। मेरा घर मेरे ही लिए पराया हो गया है। आप बीनू से कह दीजिए कि वह चला जाए—मैं अब उसका मुँह नहीं देखना चाहती हूँ। आप कैसे हैं, मेरा ख्याल नहीं करते? मैं बाहर पिसूँ और आप घर में ठाठ करें!"

गाढ़ी नींद से चौंक कर पति ने आँखें मलते हुए कान में पड़ी हुई बात को समझने का प्रयास किया और विस्मय से कहा—"हाँ, क्या कह रहीं थीं? कोई परेशानी आ गई? फिर से कहना।" कहते हुए वह चारपाई पर बैठ गए।

चाची के प्रश्नों की झड़ी के साथ ही बीनू ने 'चाची-चाची' कहते हुए प्रवेश किया। अभी तक वह चाची के आंतरिक असंतोष के बारे में पूर्ण रूप से अनभिज्ञ था। इसके विपरीत उसका विश्वास था कि सब कुछ चाची की प्रसन्नता के लिए हो रहा है। परिस्थिति के अनावृत रूप के उसे आज प्रथम बार दर्शन हुए। वह हतप्रभ हो उठा पर तुरन्त ही स्थिति को सँभालने के लिए हँस दिया—"चाची, बात ठीक है। कल से चाचा को भी ले चलेंगे।" काफी समय तक वह हँसता और हँसाता रहा। बीनू का यह शिष्ट व्यवहार चाची के अन्दर-ही अन्दर भयंकर उथल-पुथल मचा रहा था।

शाम को बीनू चाची के पास आया। उसका मुँह लटका हुआ था और वह सुस्त लग रहा था। उसके हाथ में एक पत्र था। उसने दीर्घ निश्वास लेकर कहा—"चाची यदि अनुमति दो तो मैं कल सवेरे बीकानेर चला जाऊँ। यह चिट्ठी देखती हो—मेरे मित्र की तबियत बहुत खराब है। क्या करूँ, यहाँ से जाने के लिए जी नहीं चाहता मगर लाचारी है।"

चाची सब-कुछ भाँप गई। दिन की घटना से वह स्वयं उद्विग्न थी। बीनू उसे अपना लगता था। 'अपने का अपमान' उसे दंशित कर रहा था। बीनू के इस असामयिक प्रस्थान की बात सुन कर वह व्यथित और लज्जित हो गई। बार-बार वह अपने उस स्वभाव को प्रताड़ित करने लगी जो सम्मिलित जीवन से उसको वियुक्त करता आ रहा था तथा जो स्नेहमय शिष्ट व्यवहार के सामने भी विनत नहीं होता है।

आज बीनू के रूप में उसने उस जीवन का साक्षात्कार किया जो समस्त अंगों की अच्छाइयों और बुराइयों को समेटे हुए आगे बढ़ता है। इस नवीन बोध का आलिंगन करते हुए उसने बीनू का हाथ पकड़ लिया और साग्रह बोली—"नहीं बीनू, तुम्हें कुछ दिन और ठहरना ही होगा।"

विलास

उच्चतम शिक्षा लेते हुए इंदु का परिचय विलास से हो गया। राजपूतों का-सा व्यक्तित्व—लम्बा कद, चौड़ा वक्षस्थल और गौरवर्ण—सबने सहज ही इंदु को मोह लिया। कुछ ही समय में वह इंदु पर छा गया। इंदु अपने आपको भूल गई। सोते-जागते उसी के स्वप्न देखा करती। खाते समय भूल जाती कि उसे क्या अच्छा लगता है वरन् उसे याद रहता कि विलास को क्या अच्छा लगता है। उसका प्रत्येक कर्म विलास के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देने लगा।

विलास अपने माँ-बाप का इकलौता पुत्र था। न-जाने कितनी मनौती, उपवास और साधु-सेवा के बाद उन्हें बुढ़ापे में धरोहर रूप मिला था। 'फूल-से नन्हें के आँसू न आ जाएँ, वह मुरझा न जाए'—माँ-बाप को एकमात्र यही चिन्ता रहती। अतः वह जो भी करता उसका अनुमोदन तो किया ही जाता, साथ ही प्रशंसा के पुल बँध जाते। घर के नौकर-चाकरों का भी जैसे यही काम था—राजाभैया को प्रसन्न रखना। लाड़-दुलार की परिस्थितियों में पलने के कारण राजाभैया 'नहीं' सुनने के अनभ्यस्त हो गए थे।

विलास के सयाने हो जाने पर उसके माँ-बाप 'बहू' लाने के लिए आतुर हो गए। बेटे को सद्गृहस्थ बनाकर वे 'पोते' का मुँह देखना चाहते थे। पर विलास के रंग-ढंग देखकर चुप थे। उससे कुछ कह भी नहीं पाते थे। जब उन्होंने उसका झुकाव शीलवती इंदु की ओर देखा तो फूले न समाए। उन्होंने इस प्रेम-व्यापार को बढ़ावा देने में कोई कमी न रखी। वे इंदु को समय-कुसमय बुला भेजते और सर्वत्र उसका परिचय 'बहू' के रूप में देते।

विलास का स्वभाव विचित्र था । उसमें संपन्नता का बोध और जीवन-प्रियता कूट-कूट कर भरी थी । अहन्ता तथा अभिमान उसके चरित्र के अंग बन गए थे । उसके लिए जीवन रंगस्थल था और प्रेम उपभोग-मात्र । भावनाओं के वेग में गंभीरता के लिए कोई स्थान नहीं था । क्षणिक आवेशों और वासनाओं के प्रवाह में स्थायित्व का अनुभव होना कठिन था । यदि कभी आवेगों की झंकार कम हो जाती तो वह शुष्क, तार्किक और हठी हो जाता । उसकी रूमानी-प्रवृत्ति उसे कभी शांत नहीं रहने देती-या वह आकुल और अतृप्त रहता या मधुरस से उन्मत्त । उसके वैचित्र्य-भरे स्वभाव में प्राकृत संस्कारों के प्रति अधिक झुकाव था । उसके जीवन में [illegible] बच्चे की भाँति प्रत्येक नया खिलौना उसे आकृष्ट करता और फिर विस्मरण हो जाता । उसने सभी नवलाओं को समान तीव्रता से चाहा, उन्हें अपने आमोद-प्रमोद का सहभागी बनाया; मित्रों और संबंधियों से उनका परिचय कराया; उन्हें मूल्यवान् उपहार दिए तथा उनके मोहक चित्रों से अपने निजी कक्ष को अलंकृत किया । किन्तु वह शीघ्र ही उनसे ऊब जाता—एकरसता से, चाहे वह किसी रूप में आए, उसे चिढ़ थी । नया अनुभव, नया उल्लास, नया उद्वेग सब प्रकार की नवीनता का वह पोषक था । नवीनता के लिए हथेली पर जान रखना उसे वांछनीय था और पुरातन को वह कुत्सित और मृत समझता था ।

प्रथम भेंट में ही वह इन्दु के रूप और शालीनता से आकृष्ट हुआ । इन्दु को उसका प्यार मधुर लगा और उसने धीरे-धीरे, मन-ही-मन, उसे अपना कर पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया । विलास की दम्भी और उच्छृङ्खल प्रवृत्ति उसे रह-रह कर ठेस पहुँचाती पर उसकी मार्जित रुचि सदैव मध्यस्थता कर देती । वह सोचती, 'जब जीवन इन्हीं के साथ बिताना है तो व्यर्थ में झगड़ा करने से क्या लाभ ?'

इन्दु के इस शालीन आत्म-समर्पण ने विलास को दिन पर-दिन अधिक हठी और दम्भी बना दिया, 'मैं जो करता हूँ ठीक करता हूँ

अन्यथा सुशिक्षिता इन्दु चुप क्यों रहती।' इस लालसा की अग्नि में विलास के आमोद-प्रमोद के सहभागी मित्र अपने उपेक्षित भाव द्वारा मानो आहुति डालते रहते थे—'बेटा क्रेक्ड हैं, पर हमें क्या? जब तक चाय-मिठाई मिलती जाती है चुप रहना ठीक है।' वे सिनेमा या कॉफी हाउस में उसके पैसे खर्च करने के लिए उसके ग्रह ऊँचे करते रहते और उसके विवेक को सुलाए रखते।

विचार-चिन्तनहीन विलास मित्रों के स्वार्थभाव को समझने में असमर्थ था। मौखिक प्रशंसा को सच मान कर वह प्रसन्न होता और अधिक स्वच्छंदतापूर्वक इन्द्रिय आवेगों के संकेतों पर नाचने लगता।

विलास इन्दु के विशुद्ध प्रेम से संतुष्ट न रह सका। उसका अविनीत यौवन प्रेम के पीड़न में आनन्द खोजता। वह पग-पग पर इन्दु को खोंचे देता कि तुम छोटे घर की लड़की हो। मुझे धन के लिए प्यार करती हो ताकि मेरी संपन्नता और गौरव के पंख लगा सको। 'ठीक ही कहते हैं कि नारी निर्लज्ज होती है। कितना तुम पर निछावर करता हूँ। एक से एक मूल्यवान् उपहार लाता हूँ किन्तु अकृतज्ञ नारी! तुम मेरा बिलकुल भी आभार नहीं मानती हो।'

वास्तव में विलास को गर्व था कि वह अपने व्यक्तित्व और यौवन की सम्पन्नता से सैकड़ों रूपसियों के दामन रौंद सकता है। वह अधिकतर अपने त्याग और उदारता के गीत गाता हुआ इन्दु से कहता— 'तुमने कभी मेरे बारे में सोचा? कितनी सुन्दरियाँ मुझ पर न्योछावर हैं! तुममें क्या है? न लावण्य, न गुण, न प्रतिभा! और नए मिले-जुले समाज में तो तुम चल ही नहीं सकतीं, उसके लिए तुम्हारा संकोचशील स्वभाव लज्जास्पद लगता है।' कभी अपने मानसिक बहाव में वह कहता, "यह मेरा आत्म-त्याग अथवा औदार्य है जो मैं तुम्हें अपना रहा हूँ। तुम्हें देख कर मुझे लगा कि तुम दुःखी हो और तुम्हारा नारी हृदय मेरी सहानुभूति और प्रेम का याचक है।'

ऐसे अवसरों पर इन्दु स्तब्ध रह कर गम्भीर और मौन हो जाती।

'क्या यह वही विलास है जो कुछ ही क्षण पहिले कह रहा
हँस-मुख सौन्दर्य का क्या रहस्य है ?'

इंदु का मौन विलास मे क्रोध और विरक्ति उत्पन्न करता। वह इंदु के मुँह से प्रशंसा-भरी कृतज्ञता के दो शब्द सुनना चाहता और इंदु उसके दर्प की अज्ञात उपेक्षा-सी करती हुई भीतर से आर्द्र मेघ की तरह गंभीर और मूक बनी रहती। उस समय विलास का जी करता कि वह उसे धक्का दे कर अपने से दूर कर दे—'कैसी कृतघ्न और आत्मरत है !'

आर्थिक चिन्ताओं और दायित्व के बंधनों से मुक्त तथा दिखावटी मित्रों से घिरा हुआ विलास धीरे-धीरे अपने आपको भूलता जा रहा था। उसका स्वभाव अधिकाधिक उच्छृङ्खल और मर्यादाहीन बनता जा रहा था। प्रवृत्तियों के प्रभंजन में बहने के कारण उसका व्यक्तित्व संयमित होने के बदले विकीर्ण और खण्डित हो गया था। मानवोचित शील को छोड़ कर वह गिरगिट की तरह रंग बदलने लगता। उसे स्वयं ज्ञान नहीं रहता कि कुछ ही क्षण पहिले उसने क्या कहा था। अपने सहज क्षणों में वह इंदु से कहता—'अपने सरल स्वभाव के कारण ही तुम सुखी हो। मुझे मेरे अंतर्द्वंद्व ने विकल और नष्ट कर दिया है। मैं अपने आपसे थक गया हूँ। मेरे जीवन की थकान मुझे तुम्हारे पास खींच लाती है। तुम्हारे बिना मुझे सब कुछ निःसार और नीरस लगता है।"

आत्मचिंतन के ऐसे क्षण उसके हृदय का मंथन करते। उसे अपनी छाया कुरूप लगने लगती और प्रतीत होता कि अंधकार की सर्वभक्षी कालिमा दोनों हाथ आगे फैलाए उसे पकड़ने आ रही है। वह घबड़ा कर दूर, बहुत दूर भागना चाहता। उसका तन-मन चीत्कार कर उठता। उसका बोध उसे प्रताड़ित करता—'मिट जा, तू पशु है। मनुष्यत्व के लिए कलंक !....' प्रवृत्तियों के भीषण अट्टहास से दिशाएँ गूँज उठतीं—उसके पैर काँपने लगते—जीभ सूख जाती। वह घबड़ा कर आश्रय खोजता

किन्तु दैव का अभिशाप! सुरा और सुन्दरियाँ उसे अपने प्रांगण में उठा ले जातीं और उनके आँचल की बयार उसे तुरंत विस्मृति के गर्भ में डुबा देती। वह पूर्ववत् हो जाता और विलासिता का दानव उसे पूर्ण रूप से जकड़ लेता।

विलास के विभक्त व्यक्तित्व से अप्रतिभ हो कर इंदु ने कई बार उसे छोड़ने का विचार किया। पर संस्कारों से वह लाचार थी—'हृदय समर्पण कर चुकी हूँ अब बाकी क्या बचा है? भाँवरें फिरने-न-फिरने से स्थिति में क्या अन्तर आता है! वह तो मात्र सामाजिक स्वीकृति-अस्वीकृति का सूचक है।' और इन संस्कारों को दृढ़ भित्ति देती हुई माँ की स्नेहसिक्त वाणी उसके कानों में गूँज उठती—"स्त्री की शोभा उसकी सहिष्णुता है। अपने मान को भूल कर पति में मिल जाना ही उसका धर्म है।'

इंदु और विलास के प्रेम-व्यापार को सामाजिक सम्बल देने के लिए जब उसके माता-पिता ने औपचारिक रूप से विवाह का प्रस्ताव रखा तो जीवन से अठखेलियाँ खेलने वाला विलास चौंक उठा—'शादी! यह तो बंधन का नाम है। गृहस्थ रूपी करावास को अपनाना स्वतंत्र मानव को शोभा नहीं देता। जब जीवन की साथकता सौन्दर्य के उपभोग में है तो किसी स्त्री विशेष तक अपने को सीमित करना जीवन की उपेक्षा करना है।'

विलास कि उद्दाम जीवन आकांक्षा के लिए एक स्त्री पर्याप्त न थी। पर समाज? उसमें स्वतंत्रतापूर्वक विचरने के लिए 'लाइसेंस' तो विवाह ही देता है। अतः उसने इंदु के साथ प्रणय-बंधन स्वीकार कर लिया। वास्तव में, अनजाने ही, वह इंदु का बन चुका था। उसका भीतरी व्यक्तित्व—अन्तरतम में पैठा हुआ अप्रस्फुटित मनुष्यत्व का संस्कार—जो स्वयं उसी से छिपा हुआ था और जो यौवन प्रवेगों की आँधी में पीपल के वृक्ष की तरह काँपते हुए उसके बाहरी जीवन के क्रिया-कलाप से अनुभव का रस ग्रहण करता रहता था गोपन में इंदु के शील, सहिष्णुता

तथा निश्छल प्रेम पर न्वोछावर हो चुका था और उसका अत्यंत आदर करता था। किन्तु अपनी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों से विवश हो कर और विवाहित जीवन की एकरसता से बचने के लिए तथा अपने अवचेतन में पति-पत्नी-प्रेम की निष्ठा से शंकित हो कर उसने कुछ बातों के लिए इंदु की स्वीकृति लेना अनिवार्य समझा।

अवसर पाकर उसने इंदु से कहा—"मेरे साथ विवाह करके जो तुम्हें सम्मान मिलेगा उसे तुम्हें अपना सौभाग्य समझना चाहिए।" फिर कुछ रुक कर वह बोला—"मैं चाहता हूँ कि हमारा दाम्पत्य प्रेम जीवन की वास्तविकता पर आधारित आधुनिक आदर्शों का दर्पण हो। हमें उन संकीर्णताओं से ऊपर उठना होगा जो सम्मिलित जीवन को काँटों की सेज बना देती हैं। हमें एक-दूसरे के स्वतंत्र व्यक्तित्व का आदर करना होगा जिससे प्रणय बंधन न बन कर मुक्तिकामी बन सके। मैं उन पतियों को पौरुषहीन मानता हूँ जो रुढ़िगत नैतिक परम्पराओं का बोझ-मात्र ढोते हैं और पत्नी की भ्रूभंगिमा पर चलते हैं।"

इंदु को स्वयं भार्याशासित पति स्त्रैण लगते थे। उसने विस्मय मिश्रित सहजभाव से कहा—"आप भी अकारण कैसी आशंकाओं से व्याकुल रहते हैं?"

विलास प्रफुल्ल हो उठा। उसे अपनी बाँहों में आबद्ध करते हुए आश्वस्त हो कर बोला—"यह तो तुम स्वीकार करोगी कि मात्र परिवार का दायरा मनोवृति को संकीर्ण और स्वार्थी बनाता है। हमारा प्रेम पाने का अधिकार उन सभी को होना चाहिए जो हमें प्रेम देते हैं। तुम जानती हो अनेक युवतियाँ मेरी मित्र हैं—मैं उनसे अपनी मैत्री अक्षुण्ण रखना चाहूँगा। आज तक मैं जिनके संपर्क में आया हूँ अथवा जिन्होंने मुझे प्यार दिया है उन्हें मैं केवल तुम्हारे कारण ठुकरा नहीं सकूँगा। इसी लिए मैं चाहता हूँ कि हमारा सम्मिलित जीवन पूर्ण विश्वास और पारस्परिक सद्भाव पर आधारित हो।"

उसने इंदु की ओर दार्शनिक गर्व से देखा मानो किसी गहन तथ्य

का अनुसंधान किया हो। इंदु आश्चर्य, विरक्ति और असमंजसता के कारण मूक थी। उसके मौन को उसकी स्वीकृति मान कर वह उत्साह से बोला—"तो मैं यह मान लूँ कि तुम मेरी सखियों का प्रसन्न मन से स्वागत करोगी तथा मेरी मित्रता को संदेह से नहीं देखोगी। मेरे स्वच्छन्द व्यवहार से तुम्हें कष्ट नहीं होगा। इसके बदले मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मेरी विवाहिता कहलाने का अधिकार आजीवन केवल तुम्हीं को रहेगा।"

इंदु के ऊपर मानो गाज गिर गई। मर्माहत होते हुए भी उसने अपने को सँभाल लिया। असमंजस के बादल हट गए। निर्मल चिदाकाश ने उसे औचित्य का ज्ञान करा दिया। वह बिजली की भाँति चमक कर बोली—"माँग में सिंदूर भरने का अर्थ आप जानते हैं? तन-मन से एक हो जाना। आप मेरे माँग के अधिकार को छीनकर मेरी माँग भरना चाहते हैं। रहने दीजिए, पत्नीत्व का ऐसा मिथ्या गौरव मुझे नहीं चाहिए।"

विलास के लिए यह उत्तर अप्रत्याशित था। वह इंदु को अपना मानने का अभ्यस्त हो चुका था और साथ ही उसके एकांत प्रेम और आत्मसमर्पण पर उसे पूर्ण विश्वास था। किन्तु अपनी अदम्य प्रवृत्तियों से विवश होने के कारण उसने इंदु के शीलप्रणत प्रेम को दुर्बलता मान कर उसे अपनी उद्धत प्रवृत्ति से शासित करना चाहा था।

अपनी दुधारी तलवार को व्यर्थ जाते देख कर वह क्रोध से तिलमिला कर चीख उठा—'तो यह क्यों नहीं कहतीं कि तुम मुझे प्यार नहीं करतीं।"

इंदु ने निर्विकार भाव से उत्तर दिया—"प्यार? प्यार के सत्य को पहचानने के लिए शायद एक जीवन पर्याप्त नहीं है—वह तो मेरे नारी सुलभ सामाजिक संस्कार थे जो मेरा मुँह बन्द किए थे। मेरे वे संस्कार आज आपकी उच्छृङ्खलता के आघात से नष्ट हो गए हैं। अब मैं आपको अपना मित्र कहने में भी लज्जा का अनुभव कर रही हूँ। मैं मूर्ख थी जो

हृदय के बदले आपकी उड़ान अंधप्रवृत्तियों को प्यार देती रही !"

विलास उदास-सा कह गया—"मैं क्या मैं पत्थर हो गया हूँ ! क्या मित्रों के कहने में आकर मैं अब तक अपने को भुलावे में डाले रहा !"

जीवन में आज पहली बार वह तिरस्कृत हुआ था और वह भी उस स्त्री द्वारा जिसे वह भीतर-ही-भीतर अपना चुका था और जिसने उसके उद्दंड स्वभाव के असह्य प्रहारों को बलि के पशु की भाँति सहा था। अपमान और आत्मग्लानि ने उसे झकझोर दिया।

निमिष-मात्र में उसका प्यार जैसे आवेगों के कुहासे से उबर कर स्वच्छ और जीवंत हो उठा। उस आत्मबोध के क्षण में उसकी दुर्बलता छाया की तरह खिसक कर उसके पैरों के नीचे लुंठित हो गई—उसने अपने पर विजय पा ली !

"जो अपना हो चुका है उसके सामने कैसा अभिमान !"—उसका हृदय ग्लानि और पश्चाताप से भर गया। उसने याचना-भरी सजल दृष्टि से इंदु की ओर देखा: इंदु की दृष्टि में गहरी करुणा तथा आश्वासन था !